विश्वभारती पत्रिका

साहित्य और संस्कृति संबंधी हिन्दी त्रैमासिक

सत्यं ह्येकम्। पन्थाः पुनरस्य नैकः।

अथेयं विश्वभारती। यत्र विश्वं भवत्येकनीड़म्। प्रयोजनम् अस्याः समासतो व्याख्यास्यामः। एष नः प्रत्ययः—सत्यं ह्येकम्। पन्थाः पुनरस्यः नैकः। विचित्रैरेव हि पथिभिः पुरुषा नैकदेशवासिन एकं तीर्थमुपासर्पन्ति—इति हि विज्ञायते। प्राची च प्रतीची चेति द्वे धारे विद्यायाः। द्वाभ्यामप्येताभ्याम् उपलब्धव्यमैक्यं सत्यस्याखिललोकाश्रयभूतस्य—इति नः संकल्पः। एतस्यैवैक्यस्य उपलब्धिः परमो लाभः, परमा शान्तिः, परमं च कल्याणं पुरुषस्य इति हि वयं विजानीमः। सेयमुपासनीया नो विश्वभारती विविधदेशप्रथिताभिर्विचित्रविद्याकुसुममालिकाभिरिति हि प्राच्याश्च प्रतीच्याश्चेति सर्वेऽप्युपासकाः सादरमाहूयन्ते।

विश्वभारती पत्रिका, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन के तत्त्वावधान में प्रकाशित होती है। इसलिए इसके उद्देश्य वे ही हैं जो विश्वभारती के हैं। किन्तु इसका कर्मक्षेत्र यहीं तक सीमित नहीं। संपादक-मंडल उन सभी विद्वानों और कलाकारों का सहयोग आमंत्रित करता है जिनकी रचनायें और कलाकृतियाँ जाति-धर्म-निर्विशेष समस्त मानव जाति की कल्याण-बुद्धि से प्रेरित हैं और समूची मानवीय संस्कृति को समृद्ध करती हैं। इसीलिए किसी विशेष मत या वाद के प्रति मण्डल का पक्षपात नहीं है। लेखकों के विचार-स्वातंत्र्य का मण्डल आदर करता है परन्तु किसी व्यक्तिगत मत के लिए अपने को उत्तरदायी नहीं मानता।

लेख, समीक्षार्थ पुस्तकें तथा पत्रिका से संबंधित समस्त पत्र व्यवहार करने का पता :—

संपादक, 'विश्वभारती पत्रिका',
हिन्दी भवन, शान्तिनिकेतन, बंगाल।

विश्वभारती पत्रिका

जुलाई-सितंबर १९६७ खण्ड ८, अंक २ आषाढ़-भाद्र २०२४

विषय-सूची

भिखारिन (कहानी)	रवीन्द्रनाथ ठाकुर	१०७
तांत्रिक दृष्टि	राममूर्ति त्रिपाठी	१२१
राजस्थानी साहित्य : कतिपय विशेषताएँ	हीरालाल माहेश्वरी	१३१
भदन्त शुभगुप्त के अनुसार वाह्यार्थ की सत्यता	न० अइयास्वामी शास्त्री	१५२
वाल्मीकि और संगीत	कैलासचन्द्र देव बृहस्पति	१५८
साहित्यिक कथानक अभिप्राय अथवा कथानक रूढ़ियाँ	कैलासचन्द्र शर्मा	१६७
मानसकार के राम का सौन्दर्य एवं शील	सत्यनारायण शर्मा	१७६
बौद्धधर्म में महामैत्री और क्षान्ति	सुजीतकुमार मुखोपाध्याय	११८
हिन्दी-रीतिकाव्य के संदर्भ में पत्र-पुष्पादि से निर्मित भारतीय आभूषणों का अध्ययन	लल्लन राय	१८८
बंगाल के सूफी पीर	शालिग्राम गुप्त	१९९
ग्रंथ समीक्षा	रामसिंह तोमर, मंजरी उकील	२०३
चित्र, रेखाचित्र	नंदलाल वसु, विश्वरूप वसु	

इस अंक के लेखक, चित्रकार (अकारादि क्रम से)

कैलासचन्द्र देव बृहस्पति—आचार्य, संगीतमार्तण्ड, एम० ए०, पीएच० डी०, संगीत, संस्कृत और ब्रजभाषा के लिए महानिदेशक आकाशवाणी के सलाहकार, आकाशवाणी, दिल्ली ।

कैलासचन्द्र शर्मा, एम० ए०, पीएच० डी०, अध्यापक, ईवनिंग कालेज, पंजाब यूनिवर्सिटी, जालंधर ।

न० अइयास्वामी शास्त्री, इण्डो-टिबेटन विभाग, विश्वभारती के भूतपूर्व अध्यक्ष, बौद्ध साहित्य और दर्शन के प्रसिद्ध विद्वान ।

मंजरी उकील (श्रीमती), एम० ए०, पीएच० डी०, अध्यापिका, इतिहास विभाग, इन्द्रप्रस्थ कालेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली ।

राममूर्ति त्रिपाठी, एम० ए०, साहित्याचार्य, पीएच० डी०, रीडर तथा अध्यक्ष, स्नातकोत्तर हिंदी विभाग, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन ।

रामसिंह तोमर, अध्यक्ष, हिंदी भवन, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन ।

लल्लन राय, एम० ए०, पीएच० डी०, अध्यापक, ईवनिंग कालेज, पंजाब-यूनिवर्सिटी, चंडीगढ़ ।

विश्वरूप वसु, अध्यापक, कला भवन, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन ।

शालिग्राम गुप्त, एम० ए०, डी० फिल्०, अध्यापक, हिंदी भवन, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन ।

सत्यनारायण शर्मा, एम० ए०, (हिंदी-संस्कृत), साहित्याचार्य, पीएच० डी०, अध्यापक, बरबीघा कालेज, मुंगेर ।

सुजीतकुमार मुखोपाध्याय, रीडर, इण्डो-टिबेटन विभाग, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन ।

हीरालाल माहेश्वरी, एम० ए०, एल्० एल्० बी०, डी० फिल्० अध्यापक, हिंदी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर ।

यात्रा

शिल्पी—श्रीरमेन्द्रनाथ चक्रवर्ती

विश्वभारती पत्रिका

आषाढ़-भाद्र २०२४ खण्ड ८, अंक २ जुलाई-सितंबर १९६७

भिखारिन*

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

प्रथम परिच्छेद

काश्मीर की दिगन्तव्यापी जलदस्पर्शी शैलमाला के बीच एक छोटा गाँव है। छोटी-छोटी झोपड़ियाँ अंधकारपूर्ण झुरमुटों से प्रच्छन्न हैं। जहाँ-तहाँ श्रेणीबद्ध वृक्षच्छाया के बीच से दो-एक शीर्णकाय चंचल क्रीड़ाशील निर्झर ग्राम्य झोपड़ियों के चरणों को सिक्त कर, छोटे-छोटे पत्थरों के ऊपर द्रुत पदक्षेप कर तथा वृक्षच्युत फूल और पत्तों को तरंगों द्वारा उलट-पलट कर, निकटस्थ सरोवर में मिलकर लोट रहे हैं। दूर व्यापी निस्तरंग सरसी—लजीली उषा के रक्तराग में, सूर्य की हेममय किरणों में, सन्ध्या के स्तर विन्यस्त मेघमाला के प्रतिविम्ब में, पूर्णिमा की विगलित ज्योत्स्नाधारा में विभासित होकर शैललक्ष्मी के विमल दर्पण के समान दिनरात हँसती रहती है। सघनवृक्षवेष्टित अँधेरा गाँव शैलमाला की विजन क्रोड़ में अन्धकार का अवगुण्ठन डाले धरती के कोलाहल से दूर अकेला छिपा हुआ है। दूर-दूर पर हरित् शस्यमय खेतों में गाएँ चर रही हैं, ग्राम्य बालिकाएँ सरसी से पानी भर रही हैं, गाँव के अँधेरे

---

* 'भिखारिणी' रवीन्द्रनाथ की प्रारंभिक रचनाओं में से है। यह कहानी सन् १८७७ में 'भारती' नामक पत्रिका में प्रकाशित हुई थी। गल्पगुच्छ के चतुर्थ भाग में यह संकलित हुई है।

'छेलेबेला' (बचपन) नामक कृति में रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने इस कहानी के संबंध में लिखा है 'आयु के सोलहवें वर्ष के प्रारंभ में ही भारती प्रकट हुई। ······मेरे जैसा लड़का जिसके पास न विद्या थी, न सामर्थ्य थी, वह भी उस बैठक में जगह घेर कर बैठ गया, किसी की नज़र नहीं पड़ी, इससे प्रतीत होता है चारों ओर जैसे बचपन की हवा चल रही थी। मैंने एक कहानी लिख डाली, वह कैसी थी स्वयं इसकी परीक्षा करने योग्य मेरी अवस्था नहीं थी, उसी प्रकार समझकर देखने योग्य औरों की भी आँखें नहीं खुली थीं।'

कुंज में बैठा अरण्य का उदास कवि बउकथाकओ (बहूबोलो) के भाववाला १ करुण गीत गा रहा है। सारा गाँव जैसे किसी एक कवि का कोई स्वप्न हो।

इस गाँव के एक बालक-बालिका के बीच बडा प्रेम था। दोनों हाथ में हाथ डाले ग्राम्यश्री की क्रोड में खेलते फिरते, बकुल के कुंजों में दोनों अचल भर कर फूल चुनते, शुकतारा के आकाश में अस्त होते न होते, उषा की जलदमाला के लाल होते ही सरसी के वक्ष को तरंगायित करनेवाले दो छिन्न कमलों के समान वे पास-पास तैरते फिरते, नीरव मध्याह्न में स्निग्ध तरुछाया के नीचे शैल के सर्वोच्च शिखर पर बैठा षोडशवर्षी अमरसिंह मन्द कोमल स्वर से रामायण का पाठ करता, दुर्दान्त रावण द्वारा सीताहरण का पाठ कर क्रोध से उबल पड़ता। दस वर्ष की कमलदेवी उसके मुख की ओर स्थिर हरिणनेत्रों को खोले हुए नीरव होकर सुनती, अशोक वन में सीता की विलापकथा को सुन पलकों को अश्रुसलिल से सिक्त करती। धीरे-धीरे गगन के विशाल प्रांगण मे तारों के दीप जलने पर, सन्ध्या समय अन्धकार-अचल में जुगनू चमक उठने पर, दोनों हाथ मे हाथ डाले झोपड़ी मे लौट आते। कमलदेवी बहुत मानिनी थी। किसी के कुछ कहने पर वह अमरसिंह के वक्ष मे मुख छिपा कर रोती। अमर के सान्त्वना देने पर, उसके आँसू पोछने पर, दुलार से उसके अश्रुसिक्त कपोल के चूम लेने पर, बालिका की सारी व्यथा मिट जाती। जगत में उसका दूसरा कोई न था, केवल एक विधवा माता थी और था स्नेहमय अमरसिंह, वे ही बालिका के मान की सान्त्वना और क्रीड़ा के स्थल थे।

बालिका के पिता गाँव के सम्भ्रान्त व्यक्ति थे। राज्य के उच्चपदस्थ कर्मचारी होने के कारण सभी उनका आदर करते। सम्पदा की क्रोड़ में लालित-पालित हो तथा सम्भ्रम के सुन्दर चन्द्रलोक मे रह कमल गाँव की बालिकाओं के साथ कभी मिलीजुली नहीं, बाल्यकाल से ही अपनी साध के संगी अमरसिंह के साथ खेलती फिरती थी। अमरसिंह सेनापति अजितसिंह के पुत्र थे, धन नहीं था पर उच्च वंशजात थे—इसी कारण अमर के साथ कमल का विवाह सम्बन्ध स्थिर हुआ था। कभी मोहनलाल नाम के किसी धनी के पुत्र के साथ कमल के विवाह का प्रस्ताव आया, किन्तु उसका चरित्र अच्छा नहीं जानकर कमल के पिता राजी नहीं हुए।

कमल के पिता की मृत्यु हो गई। क्रमश उनकी धन सम्पत्ति धीरे-धीरे नष्ट हो गई। फिर उनकी प्रस्तरनिर्मित अट्टालिका भी धीरे-धीरे टूट फूट गई। क्रमश उनका पारिवारिक

---

१ एक पक्षी का नाम है जो 'बउ कथाकओ, बउ कथाकओ (बहू बोलो) रटता रहता है। प्रवाद है कि यह पक्षी पूर्व जन्म में प्रेमी था और उसके जीवनकाल मे उसकी प्रेमिका बोली नहीं। भवान्तर में वह पक्षी हुआ और अपनी प्रियतमा का स्वर सुनने के लिए 'बउकथाकओ' रटता रहता है।

संभ्रम भी धीरे-धीरे विनष्ट हो गया और तब धीरे-धीरे उनके राशि-राशि मित्र एक एक करके खिसक गए। अनाथ विधवा जीर्ण अट्टालिका त्याग करके एक छोटी कुटिया में आकर रहने लगी। सम्पदा के सुखमय स्वर्ग से भयानक दारिद्र्य में पड़कर विधवा अत्यन्त कष्ट भोग रही थी। संभ्रम रक्षा करने के उपाय की बात तो दूर रही, जीवन रक्षा ही का कोई संबल नहीं था—लाड़ली कन्या किस प्रकार दारिद्र्य दुःख सहन करेगी? स्नेहमयी माता ने भिक्षा माँग करके भी कमल को किसी प्रकार दारिद्र्य की आँच नहीं लगने दी।

अमर के साथ कमल का विवाह जल्दी ही होनेवाला था। विवाह में अब दो-एक सप्ताह भर की देर थी। अमर गाँव के रास्ते पर घूमते-घूमते कमल को उसके भविष्य-जीवन की कितनी ही सुख की कहानी सुनाता—बड़े होकर दोनों उस शैल शिखर पर कितने ही खेल खेलेंगे, उस सरसी के जल में कितना तैरेंगे, उस वकुल के कुंज में कितने फूल चुनेंगे धीरे-धीरे गंभीरता से इन्हीं बातों का परामर्श होता। बालिका अमर के मुँह से उनकी भविष्य-क्रीड़ा की बातें सुनकर आनन्द-उत्फुल्ल हो विह्वल नेत्रों से अमर के मुख की ओर ताकती रहती। इस प्रकार जब ये दोनों बालक-बालिका कल्पना के अस्फुट ज्योत्स्नामय स्वर्ग में क्रीड़ामग्न थे तब राजधानी से समाचार आया, राज्य की सीमा में युद्ध छिड़ा है। सेना-नायक अजितसिंह युद्ध में जाएँगे एवं युद्ध शिक्षा देने के लिए अपने पुत्र अमर सिंह को भी साथ ले जाएँगे।

सन्ध्या हो गई है, शैलशिखर की वृक्षच्छाया में अमर और कमल खड़े हैं। अमर सिंह कह रहा है, "कमल, मैं तो चला, अब रामायण किससे सुनेगी?"

बालिका छलछलाए नेत्रों से उसके मुख की ओर ताकती रही।

"देख, कमल, यह अस्तमान सूर्य फिर कल उदित होगा, किन्तु तेरी कुटिया के द्वार को मैं पुनः खटखटाने नहीं आऊँगा। तब बता तो भला, तू किसके साथ खेलेगी?"

कमल कुछ न बोली, नीरव ताकती रही।

अमर ने कहा, "सखी, यदि तेरा अमर युद्ध क्षेत्र में मर जाए, तो—"

कमल दोनों छोटी भुजाओं से अमर के वक्ष को पकड़ कर रो उठी; कहा, "मैं तो तुम्हें प्यार करती हूँ अमर, तुम मरोगे क्यों?"

अश्रुसलिल से बालक के नेत्र डबडबा गए; जल्दी से पोंछ कर कहा, "कमल, आ, अन्धकार होता जा रहा है—आज अन्तिम बार तुझे कुटिया तक पहुँचा आऊँ।"

दोनों हाथ में हाथ डाले कुटिया की ओर चले। गाँव की बालिकाएँ पानी भर कर गीत गाती हुई घर को लौट रही थीं, वनश्रेणी के बीच से अलक्षितरूप से एक के बाद दूसरा पपीहा गा गा कर शोर मचा रहा था, सारा आकाश तारों से भर उठा। अमर क्यों उसे परित्याग

करके जाएगा इस मान से कमल कुटिया में जाकर माता की छाती में मुख छिपाकर रोने लगी। अमर अश्रुसलिलयुक्त अन्तिम बिदा लेकर लौट आया। अमर अपने पिता के साथ उसी रात गाँव छोड़कर चला गया। गांव के आखिरी छोर पर पहुँच कर शैलशिखर पर चढ़ एक-बार मुड़ कर देखा, शैलग्राम ज्योत्स्नालोक में सो रहा है, चंचल निर्झरिणी नाच रही है, सुप्त ग्राम का सारा कोलाहल स्तब्ध है, बीच बीच में दो एक ग्वालबालों के गीत के अस्फुट स्वर ग्रामशैल के शिखर में जाकर विलीन हो रहे हैं। अमर ने देखा कमलदेवी की बेलपत्तों से वेष्टित छोटी-सी कुटिया अस्फुट ज्योत्स्ना में सो रही है। सोचा इस कुटिया में शायद इस समय शून्य हृदया मर्मपीड़िता बालिका तकिए पर अपने छोटे से मुख को छिपाकर निद्राशून्य आंखों से मेरे लिए रो रही है। अमर के नेत्र आँसू से भर आए।

अजितसिंह ने कहा, "राजपूत बालक! युद्धयात्रा के समय रो रहा है।"

अमर ने अश्रु पोंछ लिए।

शीतकाल है। दिवा का अवसान हो चला। गाढ़ी अन्धकारमय मेघराशि ने उपत्यका, शैलशिखर, कुटिया, वन, निर्झर, दह, शस्यक्षेत्र को एकदम ढँक लिया है, अविश्रान्त बर्फ पड रही है, तरल तुषार से समस्त शैल आच्छन्न हो गया है, पत्रहीन शीर्ण वृक्ष सकल श्वेत मस्तक से स्तम्भित से खड़े हैं। प्रचण्ड तीव्र शीत से हिमालयगिरि भी जैसे अवसन्न हो गया है। इस शीतसन्ध्या के उदास अन्धकार के बीच से, गाढ़ बाष्पमय स्तम्भित मेघराशि को भेदते हुए एक म्लान मुखश्री छिन्नवसना दरिद्र बालिका अश्रुमय नेत्रों से पहाड़ के रास्तों पर भटक रही है। बर्फ से पैर के तलवे पत्थर के समान जड़ हो गए हैं, जाड़े से सारा शरीर काँप रहा है, मुख नीला पड गया है, बगल से दो एक राहगीर चुपचाप निकले जा रहे हैं। अभागिन कमल करुण नेत्रों से एकाध बार उनके मुख की ओर ताकती है। कुछ कहना चाहती है पर कहती नहीं, फिर अश्रुजल से अंचल सिक्त कर बर्फ पर पदचिह्न अंकित करती है।

कुटिया में रुग्ण माता अनाहार से शय्यागता है। सारे दिन बालिका को एक मुट्ठी भी खाने को नहीं मिला, प्रात से सन्ध्या तक रास्ते पर भटकती रही। भीतविह्वला बालिका साहस पूर्वक किसी से भीख नहीं मांग सकी—बालिका ने कभी भीख नहीं मागी थी, कैसे भीख मांगनी होती है, यह वह जानती नहीं थी, किससे क्या कहा जाता है इसका उसे बोध नहीं था। खुली कुन्तलराशि के बीच उस छोटे करुण मुख को देख कर प्रचण्ड शीत से कांपते हुए छोटे से देह को देख कर, पत्थर भी पिघल जाता।

क्रमश अन्धकार सघन हुआ। निराश बालिका भग्न हृदय, शून्य अंचल से कुटिया में लौट रही है—लेकिन जकड़े पैर उठाए नहीं उठ रहे [illegible] दुर्बल, पथश्रम से क्लान्त,

निराशा से खिन्न, शीत से अवसन्न बालिका से और अधिक चला नहीं जा रहा है, शक्तिहीन हो रास्ते के किनारे बर्फ की शय्या पर लेट गई। धीरे-धीरे शरीर और भी शक्तिहीन होता गया। बालिका ने समझा अब वह क्रमशः शक्तिविहीन हो बर्फ के नीचे दबकर मर जाएगी। मां का स्मरण कर रो पड़ी; हाथ जोड़ कर बोली, "भगवती माता, मुझे मारना नहीं, मेरी रक्षा करो, मेरे मर जाने पर मेरी माँ रोएगी, मेरा अमर रोएगा।"

धीरे धीरे बालिका अचेतन हो गई। कमल बिखरे कुन्तल, शिथिल अंचल बर्फ में अर्धमग्न हो वृक्ष-च्युत मलिन फूल की तरह पथ के किनारे पड़ी रही। बर्फ पर बर्फ पड़ने लगी, बालिका के वक्ष पर बर्फ पड़ रही है, गल रही है और फिर -धीरे धीरे जम रही है। इस अंधेरी रात में एक भी पथिक रास्ते से नहीं गुजर रहा है। पानी बरसने लगा। रात बढ़ने लगी। बर्फ जमने लगी। बालिका अकेली पहाड़ी रास्ते में पड़ी रही।

द्वितीय परिच्छेद

कमल की माता भग्न कुटिया में रोगशय्या पर लेटी हैं जीर्ण घर को भेदते हुए ठण्डी हवा तीव्र वेग से घर में प्रवेश कर रही है। विधवा तृणशय्या पर लेटी थर-थर काँप रही हैं। घर में अन्धकार है, दिया जलाने के लिए कोई नहीं है। कमल सवेरे भिक्षा के लिए निकली है, अभी तक लौटी नहीं है। व्याकुल विधवा प्रत्येक पद-शब्द से कमल का आना जान कर चौंक पड़ती। कमल को ढूंढ़ने के लिए विधवा ने कितनी ही उठने की कोशिश की किन्तु असफल रही। कितनी ही आशंकाओं से आकुल हो माता ने देवताओं से कातर क्रन्दन हो प्रार्थना कीं; अश्रुजल से पूर्ण हो कितनी ही बार कहा, "मैं अभागिन, मर क्यों न गई? वह बालिका तो भिक्षा माँगना भी नहीं जानती, उसे भी आज अनाथ के समान घर के बाहर जा खड़ा होना पड़ा? छोटी बालिका अधिक दूर चल नहीं सकती—वह इस अन्धकार, बर्फ, वर्षा में कैसे बचेगी?"

उठ नहीं सकती—लेकिन कमल को नहीं देख पा रही हैं, विधवा छाती पीट-पीट कर अधीरता से रोने लगी। दो-एक पड़ोसी विधवा को देखने के लिए आए थे; विधवा ने उनके पैर पकड़ कर सजल नेत्रों से कातरभाव से विनती की, "मेरी कमल रास्ता भूल कर कहीं भटक रही है, एक-बार उसे ढूँढ़ने जाइए।"

उन्होंने उत्तर दिया, "इस ठण्डे में, अन्धेरे में हम लोग घर के बाहर नहीं जा सकते।"

विधवा ने रोकर कहा, "एक-बार जाओ—मैं अनाथ, दरिद्र, धन नहीं, तुम लोगों को क्या

दे सकती हूँ। छोटी बालिका, वह रास्ता नहीं पहचानती, आज उसने सारे दिन कुछ नहीं खाया है—उसे अपनी माँ की गोद में ला दो—भगवान तुम्हारा भला करेगा।"

किसी ने नहीं सुना। इस आंधी-पानी में कौन बाहर जाएगा? सभी अपने अपने घर लौट गए।

धीरे-धीरे रात बढ़ने लगी। रो-रो कर दुर्बल विधवा थक गई, निर्जीव-सी शय्या पर पड़ी थी, ऐसे समय बाहर पदशब्द सुनाई पड़ा। विधवा चकित नेत्रों से द्वार की ओर देख कर क्षीण स्वर में बोली 'कमल बिटिया, (तू) आई?"

किसी ने बाहर से रूखे स्वर में पूछा, "घर में कौन है?"

घर के भीतर से कमल की माता ने उत्तर दिया। उसने शाखादीप[1] हाथ में लिए हुए घर में प्रवेश किया और कमल की माता से जो कहा उसे सुनते ही विधवा चीख कर मूर्छित हो गई।

तृतीय परिच्छेद

इधर बर्फ से पीड़ित कमल की चेतना धीरे-धीरे लौटी, उसने आँखें खोलीं। देखा—एक विशाल गुफा, इधर-उधर बड़े बड़े शिलाखण्ड फैले पड़े हैं। सघन धुँए के धुन्धले बादलों से गुफा भरी हुई थी, उस धुएँ के अन्धकार को भेदते हुए शाखादीप के प्रकाश से दीप्त कई मूँछों से भरे कठोर मुँह कमल के मुख की ओर देख रहे हैं।' दीवाल पर कुल्हाड़ी, तलवार आदि नानाविध अस्त्र टँगे हैं, कई-एक साधारण गृहस्थी की उपयोगी चीजें इधर-उधर पड़ीं हैं। बालिका ने भय से आँखें बन्द कर लीं।

फिर आँखें खोलकर देखा। एक ने उससे पूछा 'तुम कौन हो?"

बालिका उत्तर न दे सकी, बालिका के हाथ को पकड़ कर जोर से हिलाते हुए उसने फिर पूछा "तू कौन है?"

कमल ने भय से कांपते हुए मृदुस्वर में कहा, "मैं कमल हूँ।"

उसने सोचा था इस उत्तर से ही वे उसका सारा परिचय पा जाएँगे।

एक ने पूछा, "आज सन्ध्या के दुर्योग के समय बाहर क्यों निकली थी?"

बालिका से अब रहा नहीं गया, वह रो पड़ी। अश्रु रुद्ध कण्ठ से बोली "आज मेरी माँ को सारे दिन कुछ खाने को नहीं मिला—"

---

१. पहाड़ी लोग देवदारु वृक्ष की शाखा को जला कर उससे मशाल का काम लेते हैं।

सब हँस पड़े—उनके निष्ठुर ठहाके से गुफा प्रतिध्वनित हो उठी, बालिका के मुँह की बात मुँह में ही रह गई, कमल ने भय से आँखें मूँद लीं। दस्युओं की हँसी वज्रध्वनि के समान उसके हृदय में ध्वनित हुई, वह भय से रोकर बोली "मुझे मेरी माँ के पास ले जाओ।"

फिर सब मिल कर हँस पड़े। धीरे-धीरे उन्होंने कमल से उसका निवास स्थान, माता-पिता के नाम आदि जान लिए। अन्त में एक ने कहा, "हम दस्यु हैं, तू हमारी बन्दिनी है। तेरी माँ के पास कहला भेज रहे हैं, वह यदि निर्धारित धनराशि निर्दिष्ट समय के भीतर नहीं दे देगी तब तुझे मार डालेंगे।"

कमल रोती हुई बोली, "मेरी माँ धन कहां पाएगी? वह अति दरिद्र हैं। उसके दूसरा और कोई नहीं है—मुझे मत मारना, मुझे मत मारना, मैंने किसी का कुछ बिगाड़ा नहीं है।"

फिर सब हँस पड़े।

कमल की माता के पास एक दूत भेजा गया। उसने जाकर कहा, "तुम्हारी कन्या बन्दिनी हुई है—आज से तीसरे दिन मैं आऊँगा—यदि पांच सौ रुपए दे सकी तब तो छोड़ दूँगा, नहीं तो तुम्हारी कन्या अवश्य मार डाली जाएगी।"

इस समाचार को सुनते ही कमल की मा मूर्छित हो गई थी।

दरिद्र विधवा धन कहाँ से पाएगी? एक के बाद दूसरी सारी चीजें बेच डाली। विवाह के अवसर पर कमल को देने के लिए कुछ गहने रख छोड़े थे, उन्हें भी बेच दियां। फिर भी निर्दिष्ट धन का चतुर्थांश भी नहीं हुआ। और कुछ भी नहीं था। अन्त में वक्ष पर के वस्त्र को हटाया, जहाँ अपने मृत स्वामी की अँगूठी रख छोड़ी थी—सोचा था, सुख हो दुःख हो, गरीबी हो कभी भी उसका त्याग नहीं करेगी, सदा हृदय के पास छिपा रखेगी—सोचा था, यह अंगूठी उनकी चितानल की संगिनी होगी—लेकिन अश्रुपूर्ण नेत्रों से उसे भी बाहर निकाला। उस अंगूठी को जब उन्होंने बेचना चाहा, उस समय वे अपनी पसली की एक-एक हड्डी भी तोड़कर दे सकती थीं, लेकिन किसी ने खरीदना नहीं चाहा।

अन्त में विधवा द्वार-द्वार पर भिक्षा माँगती फिरी। एक दिन बीता, दो दिन बीते, तीसरा बीतने पर था, लेकिन निर्दिष्ट धन का आधा भी संग्रहीत नहीं हुआ। आज वह दस्यु आएगा। आज यदि उसके हाथों में धन न दे सकी, तो विधवा का जगत् में जो एकमात्र बन्धन है वह भी छिन्न हो जाएगा।

पर धन नहीं मिला। भिक्षा माँगी, द्वार-द्वार पर रोती फिरी सम्पदा के समय जो उनके पति के पास मामूली नौकरी पर थे उनके सामने भी अंचल पसारा—लेकिन निर्दिष्ट धन का आधा भी संग्रहीत न हुआ।

भय विह्वल कमल गुफा के कारागार में रो-रो कर आकुल हो रही थी। वह सोच रही थी उसका अमरसिंह रहने पर किसी प्रकार की दुर्घटना नहीं होती। अमर सिंह यद्यपि बालक है, तथापि वह जानती है अमरसिंह सब कुछ कर सकता है। दस्युलोग उसे बीच-बीच में डरा जाते हैं। दस्युओं को देखते ही वह भय से अचल से मुँह ढँक लेती। इस अन्धकार कारागृह में, इन निष्ठुर दस्युओं के बीच एक युवा था। वह कमल के प्रति वैसा कठोर व्यवहार नहीं करता था, वह व्याकुल बालिका को स्नेह से कितनी ही बातें पूछता, किन्तु कमल भय से एक का भी उत्तर नहीं देती, दस्यु के पास सरक कर बैठने से वह भय से कठिन हो उठती। यह युवा दस्युपति का पुत्र था। उसने एकबार कमल से पूछा था कि दस्यु के साथ विवाह में उसको कोई आपत्ति है? उसे बीच-बीच में प्रलोभन देता कि यदि कमल उससे विवाह कर ले तो वह उसकी मृत्यु के मुह से रक्षा करेगा। लेकिन भीरु कमल किसी बात का भी उत्तर नहीं देती। एक दिन बीता, फिर दो दिन बीते, बालिका ने भय से देखा दस्यु मद्यपान करके छुरी तेज कर रहे हैं। '

इधर विधवा के घर में दस्यु दूत ने प्रवेश किया, विधवा से पूछा—धन कहाँ है? विधवा ने भिक्षा से जो कुछ धन संग्रह किया था सभी दस्यु के पैरों पर रख कर कहा, "मेरे पास और कुछ नहीं है, जो कुछ था सब दिया अब तुमलोगों से भीख मांगती हूँ कि मेरी कमल को ला दो।"

दस्यु ने क्रोध से उन मुद्राओं को बिखेर दिए। बोला "मिथ्या प्रतारणा से पार नहीं पा सकेगी, निर्दिष्ट धन न देने पर अवश्य आज तुम्हारी कन्या मार डाली जाएगी। तब मैं चला—अपने दलपति से कह दूँगा, निर्दिष्ट धन नहीं मिलेगा, तो अब नर रक्त से महाकाली की पूजा दो।"

विधवा ने कितनी मिन्नते कीं, कितना रोई, किसी प्रकार भी दस्यु का पाषाण हृदय द्रवीभूत न कर सकीं। दस्यु-गमनोद्यत होने पर बोलीं, "रुको और थोडी देर प्रतीक्षा करो, मैं और एकबार कोशिश करके देखूँ।

यह कह कर वह बाहर चली गई।

चतुर्थ परिच्छेद

मोहनलाल के साथ कमल के विवाह का प्रस्ताव हुआ था। किन्तु वह पूरा न होने के कारण मोहन मन ही मन थोडा क्रुद्ध था। कमल का सारा वृत्तान्त मोहनलाल ने सवेरे ही

सुन लिया था और उसी समय कुल पुरोहित को बुलाकर विवाह का उत्तम दिन शीघ्र है या नहीं पूछा था।

गांव में मोहन के समान धनवान व्यक्ति दूसरा नहीं था; आकुल विधवा अन्त में उसके घर में जा पहुंची। मोहन ने व्यंग्य से हँस कर कहा "यह क्या अनहोनी बात। इतने दिनों के बाद दरिद्र की कुटिया में पदार्पण कैसे हुआ?"

विधवा—उपहास न करो। मैं दरिद्र हूँ, तुम्हारे पास भिक्षा माँगने आई हूँ।

मोहन—क्या हुआ है?

विधवा ने आद्यान्त सारा वृत्तान्त सुनाया।

मोहन ने पूछा, "तो, मुझे क्या करना होगा?"

विधवा—कमल की प्राणरक्षा करनी होगी।

मोहन—क्यों, अमर सिंह यहाँ नहीं है?

विधवा ने व्यंग्य समझा। बोली, "मोहन, यदि वासस्थानाभाव से मुझे वन-वन भटकना पड़ता, अनाहार भूख की ज्वाला से पागल होकर मरती फिर भी तुम्हारे पास से एक तिनके की भी प्रार्थना नहीं करती। किन्तु आज यदि विधवा की एकमात्र भिक्षा को पूरा न किया, तो तुम्हारी निष्ठुरता सदा याद रहेगी।"

मोहन—आओ तुमसे एक बात कहूँ। कमल देखने में कुछ बुरी नहीं, और वह मुझे पसन्द न हो ऐसी भी बात नहीं, फिर मेरे साथ उसके विवाह में तो कोई आपत्ति नहीं हो सकती। तुमसे छिपा कर क्या करना, विना कारण भीख देने की स्थिति मेरी नहीं है।

विधवा—अमर के साथ उसका विवाह सम्बन्ध तो पहले ही हो चुका है।

मोहन कुछ उत्तर दिए विना बही-खाता खोलकर लिखने बैठ गया। जैसे कमरे में कोई दूसरा न हो, जैसे किसी के साथ कुछ बातचीत ही न हुई हो। इधर समय बाता जा रहा है, दस्यु है अथवा चला गया इसका भी ठिकाना नहीं। विधवा ने रोकर कहा, "मोहन मुझे और अधिक कष्ट न दो, समय बीता जा रहा है।"

मोहन—ठहरो, काम पूरा कर लूं।

अन्त में यदि विधवा विवाह प्रस्ताव पर राजी न होती, तो सारे दिन में भी काम पूरा होता या नहीं इसमें संदेह है। विधवा ने मोहनलाल से धन लेकर दस्यु को दिया, वह चला गया। उसी दिन भय आशंका से त्रस्त हरिणी के समान विह्वला बालिका माता की गोद में लौट आई और उसके वाहुपाश में अपने मुख को ढँककर बहुत देर तक रोकर मन के वेग को शान्त किया।

किन्तु अनाथ बालिका एक दस्यु के हाथ से दूसरे दस्यु के कब्जे में आ पड़ी।

कितने ही वर्ष बीत गए। युद्ध की अग्नि बुझ गई। सैनिक घर को वापस आए और अस्त्र छोड़कर अब भूमि जोतने लगे। विधवा को खबर मिली, अजित सिंह मृत हुए हैं और अमर कारारुद्ध है। लेकिन कन्या को यह खबर नहीं सुनाई।

मोहन के साथ बालिका का विवाह हो गया।

मोहन का क्रोध थोड़ा भी कम नहीं हुआ। उस की प्रतिहिंसा प्रवृत्ति विवाह से शान्त नहीं हुई। वह निर्दोषी अबला बाला को अकारण कष्ट देता। कमल मातृक्रोड की स्निग्ध-च्छाया से इस निष्ठुर कारागृह में आकर अत्यन्त कष्ट पा रही है, अभागिन रो भी नहीं पाती। बूंद भर आँसू आँख में आने पर मोहन की डाँट के भय से त्रस्त हो पोंछ डालती।

पञ्चम परिच्छेद

शैल शिखर के निष्कलङ्क तुषार दर्पण के ऊपर उषा की रक्तिम मेघमाला नाना परतों में सज्जित हुई। सोती हुई विधवा दरवाजा खटखटाने से जग गई। दरवाजा खोलकर देखा, सैनिक के वेश में अमर सिंह खड़ा है। विधवा कुछ भी समझ न सकी, खड़ी रही।

अमर ने जल्दी से पूछा, "कमल, कमल कहाँ है?"

सुना, पति के घर।

क्षण भर को स्तम्भित हो गया। उसने कितनी ही आशाएँ की थीं—सोचा था कितने दिन बाद घर लौट रहा है, युद्ध की उन्मत्त आँधी से प्रणय के शान्तिमय स्निग्ध नीड़ में सोने जा रहा है, वह जब सहसा द्वार पर जा खड़ा होगा तब हर्षविह्वल कमल दौड़कर उसके वक्ष से लिपट जाएगी। बाल्यकाल के सुखमय स्थान उस शैल शिखर के ऊपर बैठकर कमल को युद्धगौरव की गाथा सुनाएगा, अन्त में कमल के साथ विवाह सूत्र में बँधकर प्रणय के कुसुम कुंज में सारा जीवन सुख स्वप्न में बिता देगा। ऐसी सुखमय कल्पना पर जो कठोर वज्रपात हुआ, उससे वह अत्यन्त अभिभूत हो पड़ा। लेकिन मन में उसके जितनी ही हलचल मची हो प्रशान्त मुखश्री पर जरा भी सिकुड़न नहीं दिखाई पड़ी।

मोहन कमल को उसके मातृ-आलय में रखकर विदेश चला गया। पन्द्रह वर्ष की आयु में कमल-पुष्पकली खिल गई। इस बीच कमल एक दिन बकुल वन में माला गूँथने गई, किन्तु गूँथ न सकी, दूर से ही उदास मन से लौट आई। दूसरे दिन उसने बचपन के खिलौनों को बाहर निकाला—पर खेल न सकी, निराशा से दीर्घ निश्वास छोड़कर उन्हें उठाकर रख दिया।

अबला ने सोचा था यदि अमर लौट आए तो फिर दोनों माला गूँथेंगे, फिर दोनों खेलेंगे। कितने दिन से अपने बाल्यसखा अमर को नहीं देखा है, मर्मपीड़िता कमल कभी-कभी वेदना से बेचैन हो उठती थी, किसी किसी रात कमल घर में नहीं मिलती, कमल कहाँ खो जाती—अन्त में ढूँढ़ ढूँढ़ कर उसके बचपन के क्रीड़ास्थल उस शैलशिखर पर जाकर देखते—उदासमुख बालिका असंख्यतारामण्डित अनन्त आकाश की ओर ताकते हुए बिखरे केश लिए लेटी मिलती।

कमल, माँ के लिए, अमर के लिए रोती थी इससे मोहन बहुत ही नाराज हुआ था और उसे माँ के घर भेजकर सोचा था "कुछ दिन धनाभाव से कष्ट मिले, फिर देखूंगा कौन किसके लिए रोता है।"

माँ के घर में कमल छिपकर रोती। निशीथ वायु में उसकी कितनी ही विषादपूर्ण आहें विलीन हुई हैं, एकाकी शय्या पर उसने कितने ही आंसू गिराए हैं, यह उसकी माता कभी जान न सकी।

एक दिन कमल ने अचानक सुना उसका अमर घर लौटा है। उसके कितने ही दिन के कितने भाव उमंगित हुए। अमरसिंह के बचपन के मुख की याद आई। अत्यन्त कष्ट से पीड़ित कमल बहुत देर रोती रही। अन्त में अमर से मिलने के लिए बाहर निकली।

उस शैलशिखर पर, उस वकुलवृक्ष के नीचे मर्माहत अमर बैठा है। एक के बाद एक बचपन की सभी बातें याद आने लगीं, कितनी चांदनी रातें, कितनी अँधेरी सन्ध्याएँ, कितनी विमल उषाएँ, अस्फुट स्वप्न के समान उसके मन में एक के बाद दूसरी जगने लगीं। अपने उस बाल्यकाल के साथ भविष्य जीवन के अन्धकारपूर्ण मरुभूमि की तुलना कर देखा—संगी नहीं, साथी नहीं, आश्रय नहीं, कोई बुलाकर पूछेगा नहीं, कोई उसकी मर्मव्यथा को जान कर भी ममता प्रकट नहीं करेगा—अनन्त आकाश के कक्षछिन्न ज्वलन्त पुच्छलतारे के समान, तरंगायित असीम समुद्र में आंधी द्वारा बहाई गई एक टूटी छोटी नौका के समान, एकाकी नीरव जगत् में उदास हो भटकेगी।

क्रमशः दूर ग्राम की कोलाहलपूर्ण अस्फुट ध्वनि रुक गई, निशीथ वायु ने अँधेरे वकुलकुंज के पत्तों को मर्मरित कर विषाद का गम्भीर गान गाया। अमर प्रगाढ़ अन्धकार में पहाड़ की ऊँची चोटी पर अकेले बैठे हुए दूर निर्झर की मृदु, उदास ध्वनि, निराश हृदय के दीर्घ निश्वास के समान हवा का हू-हू शब्द एवं निशीथ की मर्मभेदी एकतानवाही जो एक गंभीर ध्वनि है, उसी को सुन रहा था। वह देख रहा था। अंधकार समुद्र के बीच सारा जग

डूब गया है, दूर श्मशान भूमि में दो-एक चितानल जल रही है, दिगन्त से दिगन्त तक सघन स्तम्भित बादलों से आकाश अन्धकारपूर्ण है।

सहसा सुना उच्छ्वसित स्वर से किसी ने पुकारा, "भाई अमर"—

दृढ़ हृदय अमर ने भी अंधकार में अश्रु बहाए, फिर सहसा चकित-सा हो दूर हट गया। कमल ने अमर को कितनी ही बातें बतलाईं, अमर ने कमल को दो-एक ही उत्तर दिए। सरला आते समय जैसे उत्फुल्ल हृदय से हँसती हुई आई थी, वैसे जाते समय उदास हो रोते रोते चली गई।

कमल ने सोचा था, वही बचपन का अमर लौट आया, और मैं वही बचपन की कमल, कल से फिर खेल आरम्भ होगा। यद्यपि अमर के मर्मस्थल की गहराई में अत्यधिक चोट पहुँची थी, फिर भी वह कमल से जरा भी नाराज नहीं हुआ या मान नहीं किया। उसके कारण विवाहिता बालिका के कर्तव्य कर्म में बाधा न पड़े, इसलिए उसके दूसरे दिन वह न जाने कहां चला गया, यह किसी को मालूम नहीं हुआ।

बालिका के सुकुमार हृदय पर प्रचण्ड वज्रपात हुआ। मानिनी ने कितने ही दिन सोचा वह इतने दिनों के बाद बाल्यसखा अमर के पास दौड़ी गई, अमर ने क्यों उसकी उपेक्षा की? कुछ भी न समझ सकी। एक दिन अपनी माता से वही बात उसने पूछी, माता ने उसे समझा दिया था कि कुछ दिनों राजसभा के आडम्बरों के बीच रह कर सेनापति अमर सिंह पर्णकुटी-वासिनी भिखारिन छोटी बालिका को भूल जाएँ, इसमें असम्भव क्या है? इस बात से दरिद्र बालिका के हृदय के अन्तरतम में काटा-सा बिंधा। अमर सिंह ने उसके प्रति निष्ठुर आचरण किया, यह सोचकर उसे दुख नहीं हुआ। अभागिन सोचती, मैं दरिद्र हूँ, मेरे पास कुछ नहीं है, मेरा कोई नहीं है, मैं बुद्धिहीना क्षुद्र बालिका, उसका चरणधूलि के योग्य भी नहीं, फिर उनको भाई कहूँगी किस अधिकार से। उनसे स्नेह करूँगी किस अधिकार से। मैं दरिद्र कमल, मैं कौन हूँ जो उनसे स्नेह की प्रार्थना करूँगी।

सारी रात रोकर कटती, सवेरा होते ही उस शैलशिखर पर चढ़कर उदास बालिका न जाने क्या क्या सोचती रहती, उसके मर्म के निभृत कोने में जो बाणविद्ध हुआ था, उसे यद्यपि उसने मर्म में ही छिपा रखा था—जगत् में किसी को भी दिखाया नहीं था—फिर भी उसके मर्म में छिपा बाण धीरे धीरे उसके हृदय के रक्त का क्षय करने लगा।

बालिका अब किसी के साथ बातचीत नहीं करती, मौन रह कर सारे दिन सारी रात सोचती रहती। किसी के साथ मिलती जुलती नहीं। हँसती नहीं, रोती नहीं। कभी-कभी सन्ध्या हो जाने पर भी दिखती। पथ के किनारे पेड़ों के नीचे मैले फटे अंचल से

मुँह झाँपकर दीनहीन कमल बैठी है। बालिका धीरे धीरे दुर्बल क्षीण होने लगी। अब उससे उठा नहीं जाता—खिड़की पर अकेली बैठी रहती, देखती दूर शैल शिखर पर वत्रुल के पत्ते हवा में हिल रहे हैं। ग्वाल-बाल सन्ध्या समय उदास भावोद्दीपक स्वर में मृदु गीत गाते हुए घर को लौट रहे हैं।

विधवा अनेक प्रयत्न करके भी बालिका के कष्ट का कारण न जान सकी और उसके रोग का प्रतिकार भी नहीं कर सकी। कमल स्वयं ही समझ रही थी कि वह मृत्यु की ओर अग्रसर हो रही है। उसकी दूसरी कोई कामना नहीं थी, केवल देवता के पास प्रार्थना करती कि मरने के समय जैसे अमर को देख सके।

कमल का रोग बढ़ गया। मूर्छा के बाद मूर्छा आने लगी। सिरहाने विधवा नीरव है, कमल की ग्राम्य सहेली बालिकाएँ चारों ओर से घेर कर खड़ी हैं। दरिद्र विधवा के पास धन नहीं जो चिकित्सा का खर्चा चला सके। मोहन गांव में नहीं है और यदि रहता भी तो उसके पास से कुछ आशा नहीं कर सकती। वे दिनरात परिश्रम करके सब कुछ बेचकर कमल के लिए दवा आदि लाती। चिकित्सकों के दरवाजे-दरवाजे भटक कर भिक्षा मांगती कि एकबार वे कमल को देख जाएँ। अनेक मिन्नतों के बाद आज रात में चिकित्सक कमल को देखने आने के लिए राजी हुए हैं।

अँधेरी रात में तारे सघन बादलों में डूब गए हैं, मेघों की भयानक गर्जन पर्वत की प्रत्येक गुफा में प्रतिध्वनित हो रही है और निरन्तर बिजली की तीक्ष्ण चलितच्छटा पर्वत के प्रत्येक शृंग पर आघात कर रही है। मूषलधार वर्षा हो रही है। प्रचण्ड वेग से आंधी चल रही है। पहाड़वासियों ने बहुत दिनों से इस प्रकार की आंधी नहीं देखी थी। दरिद्र विधवा की छोटी कुटिया डगमगा रही है, फूटी छप्पर को भेदते हुए वर्षा की धारा घर में बह रही है और घर के बगल में बुझती दीपशिखा रह-रह कर कांप रही है। विधवा ने आंधी में चिकित्सक के आने की आशा छोड़ दी।

अभागिन निराश हृदय से निराशा व्यंजक स्थिर दृष्टि से कमल के मुख की ओर ताक रही है और प्रत्येक शब्द पर चिकित्सक की आशा में चकित हो द्वार की ओर देख रही है। एकबार कमल की मूर्छा भंग हुई, मूर्छा टूटने पर माँ के मुख की ओर देखा। बहुत दिनों बाद कमल की आँखो में आँसू दिखाई पड़े—विधवा रोने लगी, बालिकाएँ रो पड़ीं।

सहसा घोड़े की टाप सुनाई दी, विधवा हड़बड़ा कर खड़ी होकर बोली—चिकित्सक आए हैं। द्वार खुला, चिकित्सक ने कमरे में प्रवेश किया। वे सिर से पैर तक कपड़ों से आवृत थे, वर्षा से गीले वस्त्रों से जल की बूंदें टपक रही हैं। चिकित्सक बालिका की

तृणशय्या के सामने जा खड़े हुए। कमल ने निर्जीव विषादपूर्ण नेत्रों को उठा चिकित्सक के मुख को देखा, वह चिकित्सक न थे, वह तो वही सौम्यगंभीर मूर्ति अमर सिंह थे।

विह्वल बालिका प्रेमपूर्ण स्थिर दृष्टि से उनके मुह की ओर ताकती रही, विशाल नेत्रों से आँसू डबडबाकर छलक पड़े और प्रशान्त हास्य से कमल की विवर्ण मुखश्री उज्ज्वल हो उठी।

किन्तु यह रुग्ण शरीर उतना आनन्द न सह सका। धीरे धीरे अश्रुसिक्त नेत्र बन्द हो गए, धीरे धीरे हृद्‌कम्पन रुक गया, धीरे धीरे दीप बुझ गया। शोकविह्वला सहेलियों ने वक्ष पर फूल बिखेर दिए। अश्रुहीन नेत्रों से, दीर्घश्वास शून्य वक्ष से, अन्धकारपूर्ण हृदय से, अमर सिंह तेजी से बाहर निकल गए।

शोक विह्वला विधवा उस दिन से पगली हो भिक्षा माँगती फिरती और सन्ध्या होने पर प्रतिदिन उस भग्नावशिष्ट कुटिया में अकेली बैठ कर रोती।

आश्विन—माघ १२८४ बंगाब्द (१८७७ ई०)।

अनु० क० तो०

तांत्रिक दृष्टि

रामकृष्णि त्रिपाठी

तांत्रिक दृष्टि उन बिन्दुओं से निर्मित दृष्टि है, जो सभी आगमों में समान रूप से उपलब्ध होकर अनागमिक वाङ्मय से उन्हें पृथक् करते हैं। अभिप्राय यह कि अनागमिक वाङ्मय से आगमिक वाङ्मय को पृथक् करनेवाले, पर सभी आगमों में समान रूप से उपलब्ध होनेवाले बिन्दुओं से निर्मित दृष्टि ही आगमिक या तांत्रिक दृष्टि है। आगम या तंत्र शब्द इस सन्दर्भ में एक पारिभाषिक तथा सीमित अर्थ में प्रयुक्त हो रहा है, अन्यथा संस्कृत वाङ्मय में इस शब्द का प्रयोग इस अर्थ को गर्भीकृत करते हुए व्यापक रूप में भी अनेकत्र उपलब्ध होता है। जिस सीमित अर्थ में यहां आगम या तंत्र शब्द का प्रयोग किया जा रहा है, उसके वैदिक, अवैदिक अथवा उभयविध होने में भी कम मतवाद नहीं है। इसी प्रकार आगमिक दृष्टि के मूल उत्स पर भी ऐतिहासिक और आध्यात्मिक दृष्टि से विविध प्रकार के विचार उपलब्ध होते हैं। आगम शब्द का अर्थ, आगमों की वैदिकता और अवैदिकता, उसका मूल उत्स आदि विषय इतने प्रकार के वैचारिक आवरणों से आच्छन्न हैं कि उनको निर्णयात्मक रूप देना स्वतन्त्र विचारणा और निबन्ध का विषय है। अतः इस सन्दर्भ में इन गंभीरतम प्रश्नों पर बिना विचार किये यह स्वीकार करके चला जा रहा है कि आगम उस अपरोक्षानुभूति का बहिरागमन वह प्रकाश है जो विशिष्ट साधनाजन्य आवरणभंग से या स्वतः समुद्भासित हो उठता है। यद्यपि विश्व की निखिल मूल साम्प्रदायिक रचनाओं के विषय में स्वयं प्रकाश ज्ञान की प्रामाणिक संस्थिति पर बल दिया जाता है तथापि आगम अथवा आगमिक वाङ्मय की विशेषता उसकी प्रामाणिक अपरोक्षानुभूतिमूलकता के साथ साथ 'शक्ति' को विशिष्ट महत्त्व प्रदान करने में है। निष्कर्ष यह कि 'आगम' को प्रस्तुत संन्दर्भ में 'आगम' कहा जाने के लिये दो तत्वों की संस्थिति नितरां अपेक्षित है—पहली यह कि वह प्रामाणिक अथवा प्रमाण से भी अपरिमेय अपरोक्षानुभूतिरूप या तन्मूलक हो और दूसरी यह कि वहां मूल तत्व को शक्ति संवलित समरस रूप माना गया हो। इस दृष्टि से चाहे हम शैव या शाक्त आगमों को लें अथवा बौद्धों के 'गुह्यसमाज-तन्त्र' या वैष्णवों के पांचरात्रागमों को देखें—सर्वत्र इन दो तत्वों की उपलब्धि होने से भारतवर्ष में इन्हें प्रस्तुत सन्दर्भ के अन्तर्गत आगम नाम से पुकारा जाता है। जैनों के आगमों में यद्यपि तीर्थंकरों की अपरोक्षानुभूति का प्रकाश है पर मूल तत्व को शक्ति संवलित नहीं कहा गया है। इसलिये प्रस्तुत सन्दर्भ में उन्हें पारिभाषिक परिधि के अन्तर्गत आगम रूप में नहीं लिया जा रहा है। दसवीं ग्यारहवीं शताब्दी में आगमिक प्रभाव से प्रभावित होने पर जैनों की साधना और

वाङ्मय में शक्ति तत्व का भी प्रवेश हो गया है और जोइन्दु तथा रामसिंह आदि की रचनाओं में आगमिकता प्रतिबिंबित होने लगती है। शशिभूषणदास गुप्त की तो यह धारणा ही है कि समानान्तर रूप से प्रवाहित होनेवाले धार्मिक चिन्तनों और प्रक्रिया के साथ भारतवर्ष में भीतर ही भीतर एक रहस्यमय यौगिक साधना (Esoteric Yogic practice) चल रही थी—जो सम्भवत काफी पुरानी है। इस रहस्यमय यौगिक साधना का, जिसमें शक्ति की साधना ही प्रमुख थी—जब शैवों एव शाक्तों की धार्मिक चिन्तनाओं एव प्रक्रियाओं से सम्पर्क हुआ तब शैव एव शाक्ततन्त्रवाद का, और जब बौद्ध चिन्तनाओं एव साधनाओं से सम्पर्क हुआ तब बौद्धतन्त्रवाद का और जब भारत के पूर्वी भाग में वैष्णव चिन्तनाओं एव साधनाओं से सम्पर्क हुआ तब वैष्णव तन्त्रों या रहस्यवादी वैष्णव साधनाओं का प्राकट्य हुआ। इस प्रकार सभी भारतीय रहस्यवादी तान्त्रिक साधनाओं की पृष्ठभूमि या मूल स्रोत एक ही है। निष्कर्ष यह कि आगम समझे जानेवाले समस्त वाङ्मय या धाराओं की पहली विशेषता जो अनागमिक दर्शनों से इसे पृथक् करती है वह है-'शक्ति' की विशिष्ट सस्थिति।

शक्ति की सस्थिति का वैशिष्ट्य उसके चिन्मय रूप की स्वीकृति में है। शक्ति को चिन्मय रूप में स्वीकार करना यह आगमों की ही विशेषता है न्याय और वैशेषिक दर्शन में जड़ शक्ति को भी अस्वीकृत कर दिया गया है वहा शक्ति नामक कोई पदार्थ या द्रव्य ही नहीं माना गया है। मीमांसक शक्ति मानते हैं और मानते हैं वैदान्तिक भी—परन्तु वह अतत मिथ्या और जड़ात्मिका कही गई है। यद्यपि सांख्य और पातजल दर्शनों में 'चिति शक्तिरपरिणामिनी' का और शांकर अद्वैतानुयायी सक्षेप शारीरकम् के सर्वज्ञात्म मुनि ने अपने ग्रन्थ में "अमला-चितिशक्ति" का उल्लेख किया है—पर ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह आगम सम्मत शक्ति नहीं है, वह तो पुरुष और ब्रह्म के लिये ही प्रयुक्त है। आगम में परतत्व को ही शक्ति नहीं कहा गया है वरन् उससे उसको चन्द्र और चन्द्रिका की भांति भिन्न और अभिन्न कहा गया है। आगमों की शक्ति से कूटस्थ ब्रह्म या साक्षी पुरुष का ग्रहण नहीं किया जाता। आगमों की शक्ति जड शक्ति नहीं है वरन् 'चिति स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतु' है। यह शक्ति परतत्व से अभिन्न होने पर भी विश्व सृष्टि का मूल कारण है। इसका प्रकृति और माया की भांति परिणाम नहीं वरन् सकोच और प्रसार होता है। शक्ति ही जगत का रूप लेकर प्रकट होती है। प्राचीन वाङ्मय में भी 'इन्द्रो मायाभि पुरु रूप ईयते' द्वारा मूल तत्व के एक से अनेक होने में शक्ति को ही कारण कहा गया है। 'एतावानस्य महिमा' द्वारा शक्ति को उसकी महिमा भी कहा गया है। आगमों में यह धारा नितान्त सुस्पष्ट और सर्वप्रमुख है।

प्रत्येक तांत्रिक रहस्यमयी साधना में चाहे वे ब्राह्मण (शैव, शाक्त तथा वैष्णव) हों या ब्राह्मणेतर (बौद्धादि)—यह समान रूप से स्वीकार किया जाता है कि मूल तत्व (प्रत्येक दृश्यमान विशेष का सामान्य रूप) दो तत्वों का समरस रूप है। इन दोनों पक्षों में एक अभावात्मक है और दूसरा भावात्मक, एक निष्पंद और दूसरा सस्पंद, एक निष्क्रिय और दूसरा सक्रिय, एक निवृत और दूसरा प्रवृत्त, एक प्रकाशमय और दूसरा विमर्श, एक भोक्ता और दूसरा भोग्य, एक पुरुष और दूसरा स्त्री --अर्थात संसार के समस्त दृश्यमान द्वैत भावापन्न विशेषों को आत्मसात् करनेवाले दो तत्त्वों का समरस और सामान्य रूप ही वह मूल तत्व है उस निरपेक्ष परतत्व में ये दोनों तत्व या दोनों पक्ष समरसीभूत होकर अद्वय रूप में विराजमान रहते हैं। इसीलिये आगम सम्मत तमाम साधनाओं में उसके लिये अद्वय, मैथुन, युगनद्ध, यामल, समरस, युगल अथवा सहज आदि संज्ञाओं का प्रयोग किया गया है। शांत एवं सुस्थिर समुद्र की भांति निष्पंद पड़े हुए मूल तत्त्व के वक्षःस्थल पर उसकी स्पंदात्मा आत्मशक्ति अपने स्पंदनमय स्वभाव को समस्त अणुओं में और अपने समरस, पर दृष्टिकाल में विषमरस द्वैतमय स्वरूप को अपेक्षाकृत सन्निहित समस्त जीवों में सदा प्रकाशित कर रहा है। इस तथ्य या सत्य की पुष्टि भूतविज्ञान और प्राणिविज्ञान आदि भी करते जा रहे हैं।

इस प्रकार इन समस्त आगमों में द्वितीय समान धारणा परतत्व के स्वरूप के विषय में उपलब्ध होती है। शैव एवं शाक्त धारा में वह तत्व शक्ति एवं शिव, बौद्ध धारा में शून्यता एवं करुणा अथवा प्रज्ञा और उपाय तथा वैष्णव धारा में विष्णु एवं लक्ष्मी, राधा और कृष्ण, सीता एवं राम का आनन्दमय समरस रूप माना गया है। आगम-भिन्न अध्यात्म- धाराओं में चार्वाकों का तो कोई प्रश्न ही नहीं है, जैनों की आत्मा का स्वभाव चिन्मय या ज्ञानमय तो है, पर न तो वह द्वयात्मक अद्वय स्वरूप है और न आनन्दमय। बौद्धों पर तान्त्रिक प्रभाव पड़ने से पूर्व निर्वाण, युगनद्ध और महासुख रूप नहीं था। नैयायिक एवं वैशेषिक धारा में ज्ञान और आनन्द से भी मुक्तावस्था में आत्मा शून्य हो जाती है दूसरे ज्ञान और आनन्द उसका स्वरूप भी नहीं, वह अदृष्टवश उत्पन्न विशेष गुण है। सांख्य एवं पातंजल में भी आनन्द सत्वगुण की एक परिणति फलतः प्राकृत धर्म है—आत्मस्वरूप नहीं। मीमांसक मुक्तावस्था में एक मत से नित्य सुख की अभिव्यक्ति नहीं मानते। उत्तरमीमांसक प्रपंच सम्बन्ध विलय से आगे बढ़कर प्रपंच विलय वश चिदानन्दमय आत्मानुभव को स्वीकार करते हैं, किन्तु उनका यह चिदानन्दमय परतत्व शक्तिशून्य और निर्विशेष है। निष्कर्ष यह कि समस्त आगमों में समस्त रूप से उपलब्ध और अनागमिक दर्शनों में अनुपलब्ध परतत्व विषयक द्वैयात्मक चिदानन्दमय अद्वय वाली दूसरी विशिष्ट धारणा है जो तांत्रिक दृष्टि को स्पष्ट करतो है।

३

तांत्रिक दृष्टि का सगठक तृतीय विन्दु है 'परतत्व का लीलार्थ अवरोहण'। वैष्णव, शैव, शाक्त जैसी आगमिक धाराओं में यह स्वीकार किया गया है कि आनंदोच्छलिना शक्ति सृजत्यात्मानमात्मना अर्थात् यह परतत्व की स्वातन्त्र्यात्मा शक्ति ही है जो सृष्टि रूप में प्रसरित होती है और इस प्रसरण के मूल में उसकी लीला ही निमित्त है और लीला का कोई प्रयोजन नहीं होता। प्रयोजन से कोई कार्य वह करता है जिसे क्लेशकर अभाव का बोध होना है — मूलतत्व में क्लेशकर अभावबोध की स्थिति ही नहीं है—अत वहा प्रयोजन तथा निमित्त की बात ही सोचना व्यर्थ है। यह तो उस परतत्व की आनन्द एव ऐश्वर्यमयी स्वातन्त्र्यात्मा शक्ति है जो लीलार्थ विश्वात्मक प्रसार करती है। सृष्टि की इस गभीर प्रक्रिया को शैव एव शाक्तागमों में बहुत गहरे उतर कर बताया गया है। कामकलाविलास में विश्व को शक्ति का गर्भाधान कहा गया है। बताया गया है कि मूलतत्व या महाबिन्दु को रवि या काम कहा गया है और सिसृक्षा के साथ ही वहा अग्निसोमात्मक सित एव शोण विन्दु के परस्परानुप्रवेश से एकारात्मक त्रिकोण का उद्भव होता है—जिससे विश्व का प्राकट्य होता है। परतत्व की सिसृक्षा के साथ ही उसमें से शक्ति का पार्थक्य और शक्ति में से विश्व का पार्थक्य आभासित होने लगता है। सिसृक्षा के साथ ही पूर्णाहतामयी शक्ति में जो सकोच होता है—उससे 'अहं' के साथ 'इदं' अश भी झलकने लगता है—ग्राहक के साथ ग्राह्य एव भोक्ता के साथ भोग्य उभरने लगता है। शक्ति के इस विश्वात्मक प्रसार के क्रम में अनेक (अभेद-भेदाभेद-भेद) अवस्थाएं आती हैं। वैष्णवागमों में भी यही प्रक्रिया अपने ढग से कही गयी है। वैष्णवों की जयाख्यसहिता एव अहिर्बुध्न्यसंहिता इस सन्दर्भ मे द्रष्टव्य हैं। आगमों में सर्वत्र एकमत से यह माना गया है कि परतत्व अपनी निजी शक्ति में दर्पण की भांति अपने को प्रतिबिम्बित देखता है और समझता है—मैं पूर्ण हू। यही पूर्णाहता है। परतत्व के स्वांग से पराशक्ति का स्वान्तस्थ प्रपच उनसे निर्गत होता है। परम सुन्दर भगवान् अपने रूप को देखकर आप ही मुग्ध हैं और इतना चमत्कार अनुभव करते हैं कि अपने को ही आलिंगित करने की इच्छा होने लगती है। चैतन्यचरितामृत में ठीक ही कहा है —

रूप हेरि आपनार कृष्णेर लागे चमत्कार
आलिंगिते मने उठे काम ॥

यह चमत्कार पूर्णाहता का चमत्कार है, काम या प्रेम इसी का प्रकाश है। यही 'शिव' एव शक्ति 'विष्णु' एवं लक्ष्मी 'तथा' उपाय और 'प्रज्ञा' के सम्मिलन का प्रयोजक अगीरस अथवा श्रृगाररस है। विश्व सृष्टि के मूल में यही रसतत्व प्रतिष्ठित है। बौद्धों का शून्यता एव करुणा का समरस और स्थिर महासुखात्मा बोधिचित्त भी रसात्मक ही है। उसी बोधिचित्त

की अस्थिर अवस्था सृष्टि दशा है और स्थिर अवस्था सहज दशा है। तांत्रिक बौद्ध साधनापक्ष में तांत्रिक प्रक्रियाओं को अपनाते हैं और दर्शन पक्ष में महायान के अधिकतर विज्ञानवादी दृष्टि को तथा स्वल्पतर शून्यवादी दृष्टि को। इसीलिये वहां आत्मा के स्थान पर चित्त को सर्वाधिक महत्व दिया जाता है और उसे केन्द्रीय वस्तु समझा जाता है। समस्त जगत इस चित्त या विज्ञप्ति का परिणाम माना जाता है और उसका कारण अनादि वासना अथवा काम तृष्णा कही जाती है। दूसरी ओर विज्ञप्ति के समस्त परिणामों के स्वरूप को शून्यवादियों की भांति निःस्वभाव कहा जाता है। किन्तु इन सब बातों के बावजूद चित्त की जिस स्थिर दशा को बोधिचित्त कहा जाता है वही मूलतत्व का अपना महासुखात्मा रूप है।—जो शून्यता एवं करुणा अथवा प्रज्ञा (शक्ति) उपास्य (शक्तिमान) का समरस रूप है। भले अपनी अपनी विभिन्न परंपराओं के कारण आपाततः कुछ अन्तर जान पड़े।

समस्त तांत्रिक धाराएं इस तीसरे विन्दु पर एक मत है कि समस्त सृष्टि उसी द्वयात्मक अद्वय का प्रसार है। अनागमिक समस्त दर्शनों में सृष्टि या सृष्टि के निमित्त को अनादि कहकर छोड़ दिया जाता है—उसका कोई संतोषकर उत्तर नहीं दे पाता है। मूर्धन्य दर्शन शांकर वेदान्त इस सृष्टि को जिस माया की परिणति मानता है—उसे मिथ्या कहकर उड़ा देता है। आगमिक उस आवरक शक्ति को भी परतत्व से ही उद्भूत और इसी की भांति उसका अविच्छिन्न अंग मानकर उसे चिन्मय ही स्वीकार करता है सूर्य को ढंकनेवाला बादल सूर्य से ही उत्पन्न होता है और उसे ढँक कर भी उसी की ज्योति से स्वयं को प्रकाशित करता है[1]।

चौथा समान विन्दु है—परतत्व की पंचकृत्यकारिका। अनागमिक दर्शनों में सृष्टि से संबंधित तीन ही स्थितियां मानी गई हैं—सृष्टि, स्थिति एवं विनाश पर आगमों—वैष्णव, शैव एवं शाक्त में पंचकृत्य अर्थात सृष्टि स्थिति एवं संहार के साथ निग्रह तथा अनुग्रह की भी बात कही गई है। निग्रह एवं अनुग्रह उसी स्वातंन्त्र्यात्मा शक्ति का विलास है। विग्रह स्वेच्छावश संकोच का स्वीकार करना है और अनुग्रह परमेश्वर का शक्तिपात है जिसके कारण वह पुनः अभेदमय निजस्वरूप की उपलब्धि की ओर अग्रसर होता है। बौद्धतन्त्र अपेक्षाकृत साधन पक्ष पर अधिक केन्द्रित करते हैं —अतः इन दार्शनिक स्थापनाओं की ओर कम जाते हैं।

पंचकृत्यकारी परतत्व की स्वांगमूला निजी शक्ति का अन्तःस्थ प्रपंच बहिःप्रसारित होकर समस्त ब्राह्मणागमों में त्रिधा विभक्त माना गया है--शुद्ध या अभेद दशा, शुद्धाशुद्ध या भेदाभेददशा तथा अशुद्ध या अभेद दशा। अनागमिक दर्शनों और धाराओं में पूर्वोक्त दो

---

१. देखिए : शशिभूषण दासगुप्त—तांत्रिक वुद्धिज्म, ।

सृष्टि दशाओं का उल्लेख नहीं मिलता। इसका स्पष्टीकरण चने के बीज से किया गया है। बताया गया है कि अनार्द्र दशा में चने का दाना अखण्ड एकात्मक रूप में उपलब्ध होता है। जलार्द्र होकर उच्छून दशा में आने पर वह ऊपर से एक दिखाई पड़कर भी भीतर के दोनों दल स्पष्ट पृथक् झलकने लगते हैं और अन्त में अंकुर दशा तो सर्वथा भिन्न लक्षित होना ही है। इस प्रकार जैसे अंकुरणोन्मुख चने के बीच की अभेद, भेदाभेद तथा भेद की तीन दशाएं लक्षित होती हैं उसी प्रकार सृष्टि की भी ये तीन दशाएं समस्त आगमों में निरूपित हैं। आगमों का यह पंचम समान बिन्दु भी अनागमिक धारा में उपलब्ध नहीं होता।

वैष्णव भी अशुद्ध अध्वा के अतिरिक्त शुद्ध अध्वा स्वीकार करते हैं, परन्तु अपनी विचार शैली के अनुरूप वैष्णव अप्राकृत विशुद्ध सत्वमय लोक की कल्पना करते हैं जो त्रिगुणातीत है और नित्य चिदुज्ज्वल रूप में प्रकाशमान रहता है। गौड़ीय वैष्णव इसे चिन्मय कहते हैं और रामानुजीय वैष्णव जड़ात्मक। वास्तव में यह अतिप्राकृत विशुद्ध सत्वमय वह शुद्ध सृष्टि है जहां नित्य मुक्त आत्मायें रसानुभव में मग्न रहा करती हैं और पारमेश्वर लीला का साक्षात्कार करती हैं। द्वैत शैवागमों में जो स्थान महामाया या बिन्दु का है, वैष्णव शास्त्रों में वही स्थान विशुद्ध सत्व का भी है। विशुद्ध सत्व की स्थिति अनागमिक दर्शनों या धाराओं में नहीं है। पातंजल दर्शन के ईश्वर की उपाधि प्रकृष्ट सत्व है, विशुद्ध सत्व नहीं। महायानी बौद्धों में इसी विशुद्ध सत्व के आधार पर बोधिसत्व की कल्पना है। सम्यक् संबुद्ध दशा में आरूढ़ होने के पूर्व तक इसी सत्व का विकास माना जाता है। श्रावकयान या हीनयान में इस तत्व की कोई चर्चा नहीं है। जिस व्यक्ति के आधार में इस विशुद्ध सत्व की स्थिति होती है—वही बुद्धत्व, तीर्थंकरत्व एवं ऐश्वर्यमय शिवत्व की उपलब्धि कर पाता है—दूसरा नहीं। निष्कर्ष यह कि सृष्टि के शुद्ध एवं अशुद्ध रूपों की चर्चा आगमों में ही संभव है क्योंकि त्रिगुणातीत विशुद्ध सत्वमय या चिन्मय राज्य की संभावना उसी धारा में है।

सृष्टि के विस्तार या प्रसार के विषय में भी अनागमिक धारा से आगमिक धारा का वैशिष्ट्य है। अनागमिक धारा में अधिक से अधिक ब्रह्माण्ड और चौदह भुवन की बात आती है। पर आगमिक धारा में ब्रह्माण्ड, प्रकृत्यण्ड एवं मायाण्ड प्रकृत्यण्ड से भी परे मायावरण या विरजा के बाद भी नित्यधाम या शाक्ताण्ड यथा अन्यान्य भुवनों का उल्लेख मिलता है। अशुद्ध अध्वा में मायाण्ड प्रकृत्यण्ड तथा ब्रह्माण्ड हैं और शुद्धाध्व में शक्ताण्ड। महायानी बौद्धों का अनाश्रव धातु ऐसा ही शुद्ध जगत है—जो आगमिक धारा का ही अनुगमन है।

सृष्टि ही नहीं, प्रलय के विषय में आगमिक धारा की अपनी विशिष्ट मान्यताएँ हैं। पुराणों अथवा अन्य आगमिक धाराओं में अधिक से अधिक महाप्रलय की बात कही जाती है—

जो प्रध्वंसात्मक माना गया है। किन्तु प्रध्वंसात्मक महाप्रलय ब्रह्माण्ड का ही नहीं, प्रकृत्यण्ड एवं मायाण्ड का भी होता है। यही पौराणिक महाप्रलय के ऊपर की बात है। इसके भी ऊपर शाक्तावरण है—जिसको प्रध्वंसात्मक नहीं, प्रत्युत उपसंहारात्मक प्रलय माना जाता है। इसके अनन्तर भी संकोच की क्रिया चलती रहती है। यों तो समता तक काल का राज्य है। उसके बाद कालातीत स्थिति आ जाती है। मन की निवृत्ति के साथ आभासमय ज्ञेय पदार्थों के ग्रहण की इच्छा भी संकुचित हो जाती है। आत्मव्याप्ति का यह पूर्वाभास है। यह संकोच सदाशिव और शिव के बीच का है। शिव के भी ऊपर रूप के ऊपर और परमशिव दशा के नीचे आत्मव्याप्ति की दशा है। महाशक्ति के अनुग्रह से इस आत्मव्याप्ति के ऊपर भी बढ़ा जा सकता है।

सृष्टि प्रलय का यह सारा प्रसार जिस बंध, अख्याति या अज्ञान से होता है उसका स्वरूप भी आगमों का अपना है। शैव शाक्तागमों में मूलतत्व बोध एवं स्वातन्त्र्य या ज्ञान और क्रिया का समरस (इच्छात्मा) रूप है सिसृक्षा के साथ बोध का स्वातन्त्र्य हीन होना और स्वातन्त्र्य का बोधहीन होना ही बंध है ; अख्याति है, आत्म-संकोच है, आणवमल है। मायीयमल यज्ञ भेद की सृष्टि में निमित्त है और कार्ममल देह धारण का। 'सकल' जीवों में तीनों, 'प्रलयाकल' में दो तथा **विज्ञानाकल** में आणवमल ही शेष रह जाता है। बौद्धों के यहां भी शून्यता या प्रज्ञा से हीन करुणा या करुणा अथवा उपाय से शून्य प्रज्ञा का होना ही बंध है। वैष्णवागमों में भी स्वेच्छावश निजी अन्तरंगाह्लादिनी शक्ति का लीलार्थ भेद करना स्वेच्छाचारिता से संकोच ही है जिससे सृष्ट्यात्मक प्रसार को अवसर मिलता है।

ऊपर यह स्पष्ट किया जा चुका है कि सृष्टि के मूलतत्व का चिन्मय सक्रिय अथवा सस्पंद पक्ष शक्ति संकोच प्रसारशील है। प्रसार मायूराण्डरसन्यायेन अन्तःस्थित विश्व का बहिः प्रकाशन है जो पंचकृत्यकारी परमशिव की निग्रह या जिससे तिरोधान शक्ति का फल है— इसी प्रकार निवृत्ति कला तक प्रसार होकर पुनः निवर्तन या संकोच होता है। जिस प्रकार 'प्रसार' निग्रह या पूर्णाहंता के तिरोधानवश होता है उसी प्रकार 'संकोच' पारमेश्वर शक्तिपात या अनुग्रह के फलस्वरूप होता है। पराशक्ति के प्रसार और संकोच को अवरोहण और आरोहण भी कह सकते हैं। अवरोहण या प्रसार की क्रिया का संक्षिप्त उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, संप्रति आरोहण-क्रिया से सम्बद्ध आगमों की अपनी विशिष्ट दृष्टि का निरूपण किया जा रहा है। यहीं यह भी समझ लेना चाहिये कि सृष्टि और प्रलय शक्ति का संकोच प्रसार ही है और यह संकोच प्रसार एक आनन्दानुभूति की दशा है। अभिनवगुप्त ने

रासभी या वड़वा के मूत्रत्याग के पश्चात होनेवाले वराग के आनन्दप्रद सकोच प्रसार से इसे उपमित किया है। अस्तु।

आरोहण की प्रक्रिया पर तन्त्रों में गभीरतापूर्वक विचार किया गया है। वस्तुत अन्य दार्शनिक चिन्ताओं की अपेक्षा साधनापक्ष पर—मूल रूप की उपलब्धि पक्ष पर—तन्त्रों में जमकर विचार किया गया है। और यहा तक कहा गया है कि तान्त्रिक साधना शक्ति की साधना है। शैव एव शाक्तागमों में यह शक्ति स्पष्ट ही है जो अवरोहण वेला मे अधोमुखी होकर विभिन्न आवरणों, कोशों अथवा ग्रथिमय चक्रों की सृष्टि करती हुई पार्थिव रूप तक जड़गत होकर फल जाती है। जिस प्रकार समस्त विश्व के आधार मे इस शक्ति की अवस्थिति है उसी प्रकार व्यक्ति पिण्ड में भी। वैष्णवों के यहा यह महाशक्ति विष्णु की अन्तरग आह्लादिनी शक्ति महालक्ष्मी या राधा अथवा सीता है। बौद्धों के यहां प्रज्ञापारमिता अथवा प्रज्ञा ही वह तत्व है। बद्धावस्था मे यह शक्ति सुप्त है—इसका ही प्रबोध समस्त आगमिक साधनाओं का लक्ष्य है।

शैव तथा शाक्त मानते हैं कि समस्त शरीर ९६ अगुल का है। ४८ वाँ अगुल शरीर का मध्य है—इसी मध्य में मूलाधार के नीचे वह शक्ति कुण्डलित होकर प्रसुप्त है। इसी आधार पर समस्त पिड और ब्रह्माण्ड प्रतिष्ठित है। यदि इस आधार को चिन्मय कर लिया जाय अर्थात् इसका जागरण कर लिया जाय—तो समस्त आधेय भी चिन्मय और आनन्दमय हो जाय—विषमय विकल्प भी आनन्दमय हो जाय। इसके जागरण के लिये शैव, शाक्त, वैष्णव एव बौद्ध सभी पारमेश्वर शक्तिपात या गुरु कृपा को मूल मानते हैं। शैवों, शाक्तों एव वैष्णवों के यहां तो पारमेश्वर अनुग्रह माना ही गया है। बौद्धों के यहा भी गुरु कृपा से ही पृथक्‌जन स्रोतापन्न होता है। पारमेश्वर शक्तिपात की शक्ति जागरण मे यदि कुछ कम होती है तो उसकी पूर्ति गुरुदीक्षा तथा साधक द्वारा आचरित उपाय से होती है। शैव एव शाक्त आगमों में दीक्षा की बड़ी ही गहन प्रक्रिया निर्दिष्ट है। उपाय चार प्रकार के माने गये हैं—अनुपाय, शाम्भव शाक्त तथा आणव। आणव वहिरग उपाय है और शेष अन्तरग। वहिरग उपाय में कुछ तो आचार है और कुछ योगाग। आधार से असम्बद्ध ये ही योगांग आणव उपायों में है। शक्तिपात, दीक्षा एव उपाय के द्वारा उद्‌बुद्ध कुण्डलिनी शक्ति द्वैत, द्वैताद्वैत या अशुद्ध एव शुद्ध जगत की विभिन्न भूमियों को पार करती हुई षडध्व का अतिक्रमण करती हुई, सकोचों या कचुकों को विलीन करती हुई, समस्त प्रसार को उपसहृत करती हुई, अन्तत सामरस्यात्मक और अद्वयावस्था को पहुच जाती है।

वैष्णवों के यहा भी नाम साधना से गुरु की उपलब्धि, गुरु से चिन्मय मत्र बीज का शिष्य

में वपन, वपित बीज से दिव्य देह का आविर्भाव, दिव्य देह से वास्तविक भाव साधना (और इसी देह से नित्य धाम में प्रवेश अथवा अपने ही शरीर में दहराकाश से उदित हुए नित्य धाम का दर्शन, माधुर्य भाव का अन्ततः महाभाव दशा में आरूढ़ होना फलतः नित्यधाम) भाव का महाभावात्मा अन्तरंगाह्लादिनी शक्ति रूप में आना और फिर निजी शक्ति से परतत्व का एकरस होकर आनन्दमय समरस दशा में अवस्थित होना सहजिया एवं गौड़ीय वैष्णवों में तो है ही—शनैः शनैः इस रस की साधना का प्रभाव सभी सगुण धारा के उपासकों में आ जाता है—और रसिक साधना का प्राकट्य हो जाता है।

बौद्धों के यहां भी चित्त की संवृत्त दशा मलिन विन्दु या शुक्र है। इनकी बिन्दु (Sexo Yogic Process) साधना है। बिन्दु का उद्बोध और कुण्डलिनी जागरण एक ही बात है। गुह्य प्रक्रिया अथवा महामुद्रा साधना द्वारा साधक बिन्दु को क्षुब्ध करता है और फिर उसका ऊर्ध्व संचार करता है। ज्यों ज्यों इस बिन्दु का ऊर्ध्व संचार होता जाता है त्यों त्यों उसमें से पार्थिव, जलीय, आग्नेय एवं वायवीय अंश हटता जाता है और अन्ततः वह गगनोपम बोधिचित्त हो जाता है। ब्राह्मणतन्त्रों में जिस प्रकार विभिन्न चक्रों की चर्चा है उसी प्रकार बौद्धागमों में भी चक्रों का उल्लेख है। यहां भी निर्माणचक्र, धर्मचक्र, संभोगचक्र, तथा उष्णीषचक्र है। बिन्दु का क्षोभ निर्माण चक्र में ही होता है। इस शुद्ध बिन्दु का मध्यवर्तिनी अवधूतिका नाड़ी द्वारा ऊर्ध्व संचार किया जाता है और ऊर्ध्व संचार का अभिप्राय है समस्त विरोधी प्रवाहों का एकरस होकर ऊर्ध्व प्रवाह। जिस प्रकार कुण्डलिनी शक्ति का जागरण होने पर ऊर्ध्व संचार एवं अधः संचार से वृत्त पूरा होता है उसी प्रकार बौद्धों के यहां भी बिन्दु का उष्णीष कमल तक संचार होकर पुनः जब निर्माण चक्र में प्रतिष्ठा होती है तभी वह स्थिर निर्वात दीपशिखा की भांति निष्कंप और स्थिर हो जाता है—यहां चित्त शोधन का वृत्त पूरा हो जाता है—और शून्यता करुणाभिन्न बोधिचित्त की महासुखात्मा निज दशा की स्थिर स्थिति हो जाती है। वैदिक अथवा अनागमिक धाराओं में यह स्थिति नहीं है। वहां जब चिन्मयी एवं संकोच प्रसारात्मिका शक्ति की संस्थिति ही स्वीकार्य नहीं है—तो उसके जागरण की साधना का सवाल ही कहां उठता है?

इस प्रकार और भी कई ऐसे तत्व है जो केवल आगमों में ही मिलते हैं—उदाहरणार्थ शरीर का स्थूल, सूक्ष्म एवं कारणमय होने के अतिरिक्त वैंदव तथा शक्ति रूप होना आदि आदि।

विषय का उपसंहार करते हुए मैं पुनः उस आगम साधारण और अनागम व्यावर्तक बिन्दुओं की ओर समष्टि रूप में इंगित करना चाहता हूँ जिनसे तांत्रिक दृष्टि का निर्माण हुआ है। विन्दु हैं :—

(१) सकोच प्रसारात्मिका चिन्मय शक्ति की स्वीकृति।

(२) परतत्व का द्वयात्मक अद्वय रूप।

(३) अवरोहण या विश्व के वहिःप्रकाशन में लीला अथवा रसतत्व की स्थिति।

(४) प्रत्येक जड़ परमाणु में मूल शक्ति की स्पदनात्मकता तथा चेतन जीवों मे परतत्व की द्वयात्मकता।

(५) शक्ति का रूपान्तरण विश्व और विश्व का उपसहार शक्तिमय।

(६) सृष्टि प्रक्रिया का सित एव रक्त बिन्दु युगल के परस्पर मिश्रण से होना।

(७) शुद्ध सत्व, शुद्ध जगत की परिकल्पना।

(८) सृष्टि एव प्रलय—दोनों ही पचकृत्यकारी मूल तत्व का आनन्दमय विलास।

(९) सुप्त शक्ति का कृपावश उत्थान और वृत्तपूर्ति द्वारा स्थिरीकरण।

(१०) पूर्णावस्था में प्रपंच का विलय या वाचितानुवृत्ति होने की जगह आधार के चिन्मयीकरण द्वारा समस्त विकल्पों का अमृतायमान होना।

राजस्थानी साहित्य : कतिपय विशेषताएं

हीरालाल माहेश्वरी

मरुभाषा या राजस्थानी की भाषा, साहित्य रूप, प्रवृत्ति, परम्परा और प्रकृति की दृष्टि से कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं, जो उसे हिन्दी ही नहीं, नव्य भारतीय आर्य भाषाओं में भी विशिष्ट महत्त्व और गौरव की अधिकारिणी बनाती हैं। भाषा-शास्त्रीय दृष्टि से हिन्दी परिवार की शेष समृद्ध भाषाओं-बोलियों के साथ उसका अधिक साम्य नहीं है, ऐसा इस विषय के विद्वानों का अनुमान है। उसका विकास-क्रम और व्याकरण पृथक् है ; फिर भी साहित्यिक दृष्टि से वह इस परिवार के ही अन्तर्गत समझी और मानी गई है। ऐसा लगता है कि यह सुविधाजनक स्थिति राजस्थानी और उसके साहित्य के समुचित मूल्यांकन में बाधास्वरूप रही है, और जा आज भी बनी हुई है।

राजस्थानी साहित्य को चर्चा से पूर्व कतिपय अन्य सम्बद्ध बातों का उल्लेख भी आवश्यक है। राजस्थानी और हिन्दी ही नहीं, व्यापक दृष्टि से मध्ययुगीन भारतीय-आर्य-भाषाओं का साहित्य परस्पर सापेक्ष है। एक भाषा के साहित्य में प्रवहमान और व्याप्त प्रवृत्तियों, विचार-धाराओं, परम्पराओं, और पूर्वा पर सम्बन्ध तथा अभिव्यक्ति-शैलियों को गहराई से समझने के लिए अन्य-भाषाओं के साहित्य का आलोड़न-विलोड़न भी करना पड़ता है। उदाहरण के लिए गोरखनाथ और नाथपंथ, निर्गुण सम्प्रदाय, भक्ति-प्रसार और प्रचार, रामभक्ति में मधुरोपासना, राधा और रुक्मिणी एवं विक्रमादित्य, भोज, आलाउद्दीन, हमीर सम्बन्धी साहित्य, गेय-पद-परम्परा दोहा, कवित्त (छप्पय) आदि काव्य-रूपपरक प्रबन्ध और मुक्तक रचनाएँ ; शैव, शाक्त और विभिन्न साधनापरक सम्प्रदाय, विभिन्न धर्म-मतों में मान्य आचार-विचार, दर्शन, प्रभाव ; साहित्य में लोकतत्त्व आदि आदि को लिया जा सकता है। इनके सम्यक् अध्ययन के लिए हिन्दी के विद्यार्थी को मराठी, बंगला मारू-गुर्जर, गुजराती, राजस्थानी आदि के पुराने साहित्य को देखना आवश्यक है। इसी प्रकार, इन भाषाओं से सम्बन्धित विषय के अध्येताओं को एतद्विषयक हिन्दी साहित्य का अध्ययन भी अनिवार्य है। इसका कारण यह है कि इनके मूल में एक ही तत्त्व, एक ही जीवन-दृष्टि और एक ही सांस्कृतिक भूमिका है। प्रत्येक ने अपने जीवन-रस का सिंचन महाभारत, विभिन्न पुराण, रामायण. प्रस्थानत्रयी, मनु आदि स्मृतियों में से किसी न किसी रूप में किया है। मध्ययुगीन भारतीय आर्य भाषाओं के साहित्यों में परस्पर सापेक्षिता के ये प्रधान कारण हैं।

हिन्दी और राजस्थानी के सम्बन्ध में इस व्यापक दृष्टिकोण से हट कर यदि और गहराई से विचार करते हैं, तो इन दोनों के साहित्य में विभिन्न कालों में प्रवाहित अनेक साहित्यिक धारा-

उपधाराओं, परम्पराओं, काव्य-रूपों, अभिव्यक्ति-पद्धतियों तथा प्रस्तुत-अप्रस्तुत विधान आदि के अध्ययन में एक विशिष्ट अन्तर स्पष्ट दिखाई देता है। भाषागत और व्याकरणिक अन्तर तो है ही। इस अन्तर के मूल में इस भूखण्ड के लोगों की परम्परा और जातिगत विशेषताएँ, लोक की विशिष्ट जीवन-पद्धति मान मूल्य और दृष्टिकोण की विभिन्नता आदि का होना है। यही अन्तर राजस्थानी साहित्य की कतिपय अपनी जातीय विशेषताओं का द्योतक और उनके लिए उत्तरदायी है। विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी से लेकर अब तक इस साहित्य-धारा का प्रबल प्रवाह, सामाजिक चेतना को आत्मसात् और लोकजीवन को मुखरित करता हुआ सतत अजस्र रूप में बहता चला आया है। इसकी उपेक्षा करना, अनेक कारणों से घातक ही सिद्ध होगा। इस साहित्य सम्पदा को अपने में मिलाकर चलने से हिन्दी के गौरव की शतगुनी वृद्धि होगी, इसमें सन्देह नहीं है। किन्तु यदि ऐसा नहीं हुआ तो यह भी असम्भव नहीं है कि कभी जन-जागरूकता के सहारे, यह साहित्य अपनी प्राणशक्ति को समेट कर अपने स्वतन्त्र अस्तित्व के लिए प्रयासशील हो। यह भी सम्भव है कि यह हिन्दी में आत्मसात् हो जाए। जो हो, यह तो भविष्य की बात है और राजस्थानी के प्रेमियों, बोलनेवालों और साहित्यकारों की चेतना और चिन्तन-शक्ति पर निर्भर है।

समय पा कर किसी भी भाषा और मुख्य बोली के साहित्य की, प्रकृति, परम्परा और लोकचेतना आदि के कारण कुछ ऐसी विशेषताएँ निर्मित हो जाती हैं जो शेष भाषाओं-बोलियों के साहित्यों में प्राय उसी रूप में नहीं मिलती। अपनी समग्रता में इन्हीं विशेषताओं को भाषा, बोली-विशेष की जातीय विशेषताएँ कहा जा सकता है। ये जातीय विशेषताएँ केवल राजस्थानी साहित्य की ही नहीं ब्रज और अवधी के मध्ययुगीन साहित्य में भी लक्ष्य की जा सकती हैं। मोटे तौर पर ब्रजभाषा का साहित्य अधिकांश में मुक्तक, गोपी-राधा-कृष्ण विषयक, प्रेम तथा शृंगार रसपरक और हृदय की कोमल वृत्तियों का दोहा सवैया और मनहरण आदि छन्दों के रूप में वाहक है। अवधी का साहित्य प्रबन्धात्मक, चरित-कथा परक, घटना-वर्णन-उपदेश समन्वित, हृदय की उदात्त वृत्तियों का उद्बोधक-पोषक और लोक विशेष की सामूहिक चेतना का द्योतक है और जो मुख्यत दोहा-चौपाई-रूप में लिखा गया है।

राजस्थानी साहित्य की भी कतिपय महत्त्वपूर्ण जातीय विशेषताएँ हैं, जिनका उल्लेख आगे किया गया है। हिन्दी के सन्दर्भ में इस साहित्य के अध्ययन के सम्बन्ध से कुछ प्रश्नों का उठना स्वाभाविक है। इस विषय में हिन्दी साहित्य के इतिहास का प्रचलित काल-विभाजन नामकरण और प्रत्येक काल के अन्तर्गत विवेचित सामग्री के आकलन को ध्यान में रखना आवश्यक है। 'आदिकाल' के अन्तर्गत आनेवाली जो प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध है, वह

अधिकांश में मारु-गुर्जर या पुरानी राजस्थानी की सम्पत्ति है और कुछ मैथिली की भी है। 'भक्तिकाल' में व्रज और अवधी के साहित्य की ही चर्चा विशेषरूप से मिलती है। 'रीति या शृंगार' काल में केवल व्रज-साहित्य की और 'आधुनिक काल' में तो खड़ीबोली-साहित्य का उल्लेख ही प्रायः उपलब्ध होता है। इससे सामान्य पाठक की ही नहीं, हिन्दी के एम० ए० उत्तीर्ण औसत विद्यार्थी की यह धारणा बने बिना नहीं रहती कि कदाचित् 'आदिकाल' के पश्चात् राजस्थानी और मैथिली में साहित्य रचना बिल्कुल नहीं हुई और इसी प्रकार शेष कालों में छूटी हुई शेष भाषाओं के साहित्य की भी। लेकिन यह बात उचित नहीं है। जहाँ तक राजस्थानी का सम्बन्ध है, उसके साहित्य-निर्माण की सुदीर्घ और अक्षुण्ण परम्परा आज तक रही है। प्रश्न यह है कि यदि 'आदिकाल' में पुरानी राजस्थानी की रचनाओं को विवेचनीय समझा गया, तो कोई कारण नहीं कि कालक्रम से उसकी शेष प्रामाणिक साहित्य सामग्री को भक्ति, शृंगार और आधुनिक काल में यथोचित स्थान न दिया जाए। मैथिली के सन्बन्ध में भी यही बात है। केवल तथाकथित 'आदिकाल' की सत्ता को कायम रखने के लिए ही यदि राजस्थानी और मैथिली की रचनाओं को लिया जाता है, तो उचित यही है, कि उनको न लिया जाए। विद्यापति को हिन्दी के आदिकाल का कवि घोषित करके हिन्दी के लब्ध-प्रतिष्ठ विद्वान अपने इतिहास ग्रन्थों में ऐसा कर भी चुके हैं। यों भाषाशास्त्र के विद्वानों ने पश्चिमी हिन्दी और पूर्वी हिन्दी समूह की भाषा-बोलियों को ही हिन्दी की संज्ञा दी है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि साहित्य का इतिहास लेखन व्यक्ति, व्यक्ति-समूह और संस्था विशेष की मनमानी रुचि या इच्छा का विषय नहीं है। इसके लिए एक बार जिन सिद्धान्तों को अपनाया गया, बाद में उनके आधार पर उपलब्ध सामग्री और तथ्यों की अवहेलना करना कदापि उचित नहीं कहा जा सकता। इस दूसरे प्रश्न का यदि परम्परागत और व्यावहारिक समाधान यह है कि राजस्थानी हिन्दी के ही अन्तर्गत है, तो तत्काल ही यह शंका उठती है कि कदाचित् हिन्दी साहित्य के इतिहास का काल विभाजन और नामकरण पुनर्विचारणीय है।

यहाँ आदिकाल के अतिरिक्त हिन्दी साहित्य के इतिहास में लगभग संवत् १८२५ से १९२५ तक एक शताब्दी की एक और टूटी हुई कड़ी की ओर इंगित किया जा सकता है। इस समय के आसपास से देश के जन-जीवन पर विदेशी प्रभाव विशेष रूप से पड़ना आरम्भ हुआ, जो द्वितीय महायुद्ध तक बढ़ता ही गया। इस काल में निर्मित साहित्य के मूल में पूर्व परम्परा-पालन तथा विदेशी प्रभाव दोनों रहे हैं। कालान्तर में कहीं कहीं विदेशी प्रभाव के अधिक बढ़ने से साहित्य-विशेष, पूर्व परम्परा से कटता हुआ भी दिखाई देता है। यह प्रभाव भारत के सभी प्रान्तों पर कम या अधिक, किसी न किसी रूप में अवश्य पड़ा है। अतः

साहित्य में अभिव्यक्ति-भेद होते हुए भी विषय भेद अधिक नहीं है। जहाँ तक राजस्थान का सम्बन्ध है, उसकी स्थिति भारत के शेष प्रान्तों से कुछ भिन्न रही है। देशी नरेश अंग्रेजी सरकार के अधीन होते हुए भी अपने अपने राज्यों में विशेषतया आन्तरिक मामलों में प्राय स्वतन्त्र ही थे। इन नरेशों और उनकी सुदीर्घ परम्परा के अन्तर्गत यहाँ के कवियों का दृष्टिकोण अपेक्षाकृत भिन्न रहा है। इस प्रकार के वातावरण के कारण कुछ भिन्नता स्वाभाविक ही थी। दुर्भाग्य से इस बात को ध्यान में न रखने के कारण हिन्दी साहित्य के इतिहासकार विक्रम की उन्नीसवीं शताब्दी और उसके बाद के कुछ वर्षों के राजस्थानी साहित्य को न तो ठीक से ग्रहण ही कर पाए और न ही उसका समुचित मूल्यांकन कर सके। हिन्दी साहित्य के इतिहास में ये १०० वर्ष अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। इस काल में रीति या शृंगार काल का प्रारम्भ होना माना गया है। किन्तु दुर्भाग्यवश साहित्य निर्माण की दृष्टि से यह समय शून्य-सा है। एकाध अपवाद को छोड़कर कोई विशेष उल्लेखनीय साहित्यिक कृति इस काल में उपलब्ध नहीं होती। आशा की जा सकती थी कि 'आदिकाल' की भाँति टूटी कड़ी मिलाने में, इस काल के साहित्य विवेचन के प्रसंग में राजस्थानी साहित्य को भी स्मरण किया जाता, किन्तु उल्लिखित दृष्टिभेद के कारण ऐसा नहीं हुआ। यही कारण है कि बाँकीदास, सूर्यमल मीसण, विष्णोई सिद्ध कवि परमानन्द दास वणियाल और शंकरदान सामौर जैसे सशक्त और मूर्धन्य महाकवि हिन्दी के इतिहास ग्रन्थों में सर्वथा उपेक्षित हो रहे।

साहित्य के विभिन्न कालों के विभाजन और नामकरण के लिए आधार क्या हो, यह भी विचारणीय विषय है। साधारणतया रचना, रचयिता, विषय और पद्धति में से एक को इस हेतु ध्यान में रखा जाता है। इनके अतिरिक्त कहीं कहीं राजनैतिक ऐतिहासिक और सामाजिक धरातल का भी आधार लिया जाता है। इस विभाजन और नामकरण में काल विशेष की प्रमुख और व्यापक प्रवृत्तियों की झाँकी के दर्शन होने चाहिए तथा अन्तःप्रवृत्तियों के द्योतन-स्वरूप अन्तर्विभाग का आधार भी किसी न किसी रूप में बना रहना चाहिए। यही नहीं सैद्धान्तिक आधारों में भी सर्वत्र एकरूपता रहनी आवश्यक है। ऐसा न होने से ही मनमानी का अवसर मिलता है। 'आदिकाल' नाम इनमें से किसी का बोध नहीं कराता। भक्ति और शृंगारकाल नामों के मूल में प्रवृत्तियाँ हैं और आधुनिक काल नाम पद्धति के आधार पर दिया गया है। स्पष्ट ही यह काल-विभाजन और नामकरण दोषपूर्ण तथा भ्रान्तिजनक है। ऐसी स्थिति में जब समूचा राजस्थानी साहित्य हिन्दी में मिलेगा या मिलाया जाएगा, तो काल विभाजन और नामकरण की समस्या और भी जटिल होगी। इसी प्रकार मैथिली साहित्य के सन्दर्भ में विद्यापति तक तो ठीक है, किन्तु उसके पूर्व और पश्चात् के मैथिली-भाषा के साहित्य

को लेने पर सम्भवतः यह कार्य दुष्कर सा प्रतीत होने लगेगा। तात्पर्य यह है कि वर्तमान स्थिति में तो हिन्दी साहित्य के इतिहास का प्रचलित काल विभाजन और नामकरण शायद कुछ वर्ष और चल जाए, यद्यपि इस पर अनेक प्रश्नवाचक चिह्न लगाए जाने लगे हैं किन्तु समूचे राजस्थानी साहित्य को इसके अन्तर्गत लेते ह स्थिति बदलने को सम्भावना निश्चित सत्य होगी। इसकी विशाल और वैविध्यपूर्ण साहित्य-राशि को देखते हुए यह बात दृढ़तापूर्वक कही जा सकती है और जो साधार है।

इस सम्बन्ध में हमारा सुझाव यह है कि हिन्दी को प्रमुख भाषाओं—राजस्थानी, मैथिली, अवधी, ब्रज और खड़ीबोली के साहित्यों के प्रामाणिक सामग्री के आधार पर पृथक् पृथक् इतिहास लिखे जाएँ और उनको तत्तत् साहित्य-धारा नाम से पुकारा जाए। उदाहरणार्थ राजस्थानी साहित्य-धारा के अन्तर्गत राजस्थानी साहित्य का इतिहास होगा, जो सामूहिक रूप से हिन्दी साहित्य के इतिहास का एक अङ्ग कहा जाएगा। इसी प्रकार उपर्युक्त अन्य भाषाओं के इतिहास होंगे। ऐसा होने पर स्पष्ट ही हिन्दी का साहित्यिक इतिहास-लेखन किसी एक व्यक्ति का कार्य नहीं रह जाएगा, क्योंकि व्यक्ति-विशेष के लिए इस विशाल रूप में हिन्दी-परिवार के समस्त साहित्य का अध्ययन और ग्रहण प्रायः असम्भव व्यापार-सा ही होगा। और तो और राजस्थानी साहित्य और उसकी रचनाओं के सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से लेकर वर्तमान में प्रचलित हिन्दी साहित्य के इतिहास ग्रन्थों में जो उल्टी-सीधी और हास्यास्पद बातें कही गई हैं, उनसे हमारे कथन की सत्यता सिद्ध होगी। यह हालत तो तब है, जब इसका अल्पांश ही सामने आया है।

उपर्युक्त कथन राजस्थानी साहित्य की प्रमुख विशेषताओं के सम्यक् दिग्दर्शन के लिए ही कहा गया है। आगे हम राजस्थानी साहित्य को कतिपय उन विशेषताओं का संक्षेप में उल्लेख करते हैं, जो या तो हिन्दी साहित्य में अप्राप्त हैं या अल्पप्राप्त हैं। जैसा कि पहले कहा जा चुका है हिन्दी के प्रसंग में हम इनको इस साहित्य की जातीय विशेषताएँ कह सकते हैं।

इस साहित्य को चार मुख्य धाराओं में विभाजित कर सकते हैं—चारण-साहित्य, जैन-साहित्य, लौकिक साहित्य तथा सिद्ध-साहित्य। लौकिक-साहित्य से हमारा तात्पर्य उस साहित्य से है, जिसका रचयिता उल्लिखित शेष तीनों में से किसी धारा का कवि नहीं है, अथवा लोक-प्रसिद्धि के कारण कालान्तर में उसका व्यक्तित्व अपनी कृति में ही समाहित होकर रह गया है। सिद्ध-साहित्य नाम के लिए भी दो शब्द कहने आवश्यक हैं। आध्यात्म-क्षेत्र और मोक्ष-पथ के सम्बन्ध में सगुण, निर्गुण के कटघरे उचित प्रतीत नहीं होते। इस क्षेत्र

में कवि-साधक को, जिस किसी माध्यम से किसी प्रकार की, किसी परिमाण में यदि सिद्धि की उपलब्धि हो जाए, अथवा वह इस हेतु प्रेरित हो, तो उसमे सम्बन्धित अभिव्यक्ति सिद्ध साहित्य के अन्तर्गत मानी जाएगी, चाहे वह प्रयास और सिद्धि सगुणोपासना, निर्गुणोपासना या समन्वित रूप से उभयोपासना से ही प्राप्त क्यों न हुई हो। जो कोई इस सिद्धि हेतु प्रयास करता है, या जिस किसी को यह किसी रूप और मात्रा में प्राप्त होती है, वही सिद्ध है। एतद् विषयक समस्त प्रक्रियाओं की अभिव्यक्ति का सामूहिक नाम सिद्ध साहित्य है। मुख्य बात सिद्धि की है, सगुण या निर्गुण की नहीं। उल्लेखनीय है कि मराठी साहित्य में भी सगुण-निर्गुण जैसा कोई विभाजन नहीं है। इस विषय के विस्तार में जाने की यहाँ आवश्यकता नहीं है।

इस नामकरण के लिए एक बात और भी है। ठेठ-मरु-प्रदेश में प्रवर्तित पुराने और प्रसिद्ध दो सम्प्रदायों—विष्णोई और जसनाथी और उनके साहित्य को इस संदर्भ में देखा जा सकता है। इनमें दसावतार तो मान्य है, किन्तु मूर्ति-पूजा का विधान नहीं है। उपासना हरि या विष्णु की की जानी है जो निर्गुण ब्रह्म के पर्याय हैं। नाम-स्मरण इसका श्रेष्ठ उपाय है, किन्तु तिथि-विशेष और अवसर-विशेष पर घी से हवन करना एक परमावश्यक कृत्य है। इस प्रकार, इनमें न केवल सगुण-निर्गुण समन्वित रूप ही मान्य है, प्रत्युत वैदिक कर्मकाण्ड-यन की भी उतनी ही महत्ता है। विष्णोई सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक जाम्भोजी विष्णु और शेष विष्णोई साधु-सन्त, कवि तथा जसनाथजी और जसनाथी सन्त "सिद्ध" कहे जाते हैं। अत इन दोनों सम्प्रदायों के साहित्य को 'सिद्ध साहित्य' कहना समीचीन है। रामस्नेही सम्प्रदाय में राम के सगुण निराकार रूप का स्मरण और साधना मान्य है। निरजनी सम्प्रदाय के उद्भव प्रवर्त्तन प्रसार-प्रचार और साहित्य सम्बन्धी सामग्री अभी विशेष प्रकाश में नहीं आई है और जो कुछ आई है उसकी प्रामाणिकता के सम्बन्ध मे काफी मतभेद होने की गुंजाइश है। यों प्रचलित मान्यता के अनुसार यह तथा दादूपथ निर्गुण धारा के अन्तर्गत गिने जाते हैं और यही बात यहाँ के शेष सम्प्रदायों के सम्बन्ध में भी है। उल्लेखनीय बात यह है कि उत्तरी भारत में धर्म-सम्प्रदाय या पथ निर्माण का सूत्रपात राजस्थान मे ही हुआ। सवत् १५४२ मे पीपासर गांव के पँवार राजपूत जाम्भोजी द्वारा प्रवर्तित विष्णोई सम्प्रदाय उत्तरी भारत का पहला सम्प्रदाय है। यह कथन विभिन्न दार्शनिक मतवादों को ध्यान में रख कर नहीं कहा गया है। उत्तरी भारत की सिद्ध (या सन्त ?) परम्परा में इस प्रकार सम्प्रदाय निर्माण का सूत्रपात जाम्भोजी से ही हुआ।

दूसरी बात यह है कि यहाँ के सिद्धों ने जाति पांति और तद्‌जन्य ऊँचनीच भावना और

एतद् विषयक परम्परागत मान्यताओं पर सामाजिक दृष्टि से कभी प्रहार नहीं किया। जाति-पाँति सम्बन्धी सामाजिक स्थिति को स्वीकार करके ही इन्होंने अपने सिद्धान्तों का प्रचार किया। हाँ, आध्यात्म-क्षेत्र में सबने अभेद स्थिति ही स्वीकार की। केवल कबीर और उनकी विचार-धारा को ही ध्यान में रखने के कारण, विद्वान् लोग कभी कभी यह समझ लिया करते हैं कि 'निर्गुण पंथ' के पेटे में आनेवाले सभी सिद्धों ने समाज और सामाजिक स्थिति के सम्बन्ध में वैसी ही बातें कही होंगी, जैसी कि कबीर ने। निवेदन है कि तथ्य प्रायः इसके विपरीत ही हैं।

इस साहित्य की परम्परा विक्रम की ११ वीं शताब्दी से लेकर अब तक बराबर अक्षुण्ण रही है। चौदहवीं शताब्दी से तो प्रायः प्रत्येक चरण की प्रामाणिक कृतियाँ उपलब्ध हैं। हिन्दी-परिवार की शेष भाषा-बोलियों की स्थिति ऐसी नहीं है। इस सम्बन्ध में 'आदिकाल' तथा उन्नीसवीं-बीसवीं शताब्दी (संवत् १८२५-१९२५) के हिन्दी साहित्य की कुछ चर्चा कर आए हैं (देखें पीछे)। आदिकाल के विषय में विस्तार से जाने की आवश्यकता नहीं है। शेष के सम्बन्ध में यहाँ कुछ कहना है, क्योंकि उसकी चर्चा अधिक हुई नहीं है। भाव, विषय, तथा भाषा शैली की दृष्टि से विक्रम की उन्नीसवीं शताब्दी और उसके पश्चात् के कुछ वर्षों का अल्पमात्रा में उपलब्ध हिन्दी काव्य, काव्य की दृष्टि से विशेष महत्त्व नहीं रखता। ऐसा प्रकारान्तर से इस विषय के अध्येताओं का स्वयं ही कहना है। समूचा हिन्दी-प्रदेश इन दिनों राजनैतिक दृष्टि से आक्रान्त और डावांडोल स्थिति में था। उसकी मान्यताएँ टूटने और परम्पराएँ विगलित होने लगी थीं। धार्मिक दृष्टि से वह आस्थाहीन और आडम्बरों से परिपूर्ण था। इसके फलस्वरूप साहित्य-निर्माण और उसके महत्त्व की दृष्टि से हिन्दी प्रदेश प्रायः शून्य ही रहा। जैसे 'आदिकाल' के सम्बन्ध में हिन्दी साहित्य का इतिहास लेखक अनेक इतर और असम्बद्ध बातों की चर्चा का लबादा ओढ़ कर अपनी कमजोरी छिपाना चाहता है, कुछ कुछ वैसे ही वह इस काल के १००। १२५ सालों में भी करता है। यहाँ वह प्रधानतया राजनैतिक उथल-पुथल, विभिन्न सुधार आन्दोलन और उनकी पृष्ठभूमि तथा खड़ीबोली के बीज-वपन की रोचक कहानियों द्वारा ही साहित्यिक इतिहास की इतिश्री समझ निकल भागना चाहता है। साहित्य के नाम पर यत्किंचत् पद्यबद्ध रचनाओं और तुकबंदियों का उल्लेख ही उसका विषय बन पाता है। राजस्थानी साहित्य इस स्थिति को बदल सकता है; वह इस टूटी कड़ी को जोड़ सकता है। महाराजा मानसिह, बाँकीदास, किसना आढा, मन्छाराम, दो विष्णोई सिद्ध कवि—परमानन्द दास वणियाल और हरजी वणियाल, आसिया बुद्धजी, गोपालदान दछवांड़िया, सूर्यमल मीसण, शंकरदान सामौर, रामनाथ कविया आदि

आदि अनेक ऐसे कवि इन वर्षों में हुए हैं, जिन्होंने विविध प्रकार से उत्कृष्ट और चिर-स्मरणीय साहित्य की रचना की है। पूर्व-परम्परा के साथ, देश में व्याप्त तत्कालीन परिस्थिति को भापने, परखने, उसके परिणामों और प्रतिक्रियाओं से सचेत कराने और उचित-दिशा-निर्देश करने में भी ये तथा ऐसे ही अन्य राजस्थानी कवि अपनी समता नहीं जानते। किसी भी भाषा को उन पर गर्व हो सकता है। युग की नारी को इन्होंने कितनी बारीकी से पकड़ा-समझा है, विचारों और उनकी परिपक्वता तथा भावपूर्ण प्रेषणीयता में अपने समकालीन हिन्दी कवियों से कितने आगे हैं, इसके दो एक उदाहरण पर्याप्त होंगे।

बाँकीदास ने वीर-विशेष पर कविता न लिखकर मुख्यतया वीर पर लिखी। उनका कथन किसी भी वीर के लिए है। यह वीररसात्मक काव्यों की पूर्व परम्परा से किंचित् पृथक्ता है। कारण यह था कि उस समय जातीय गौरव और स्वाधीनता की भावना से युक्त वीर उनकी दृष्टि में कोई नहीं था। सच्चा कवि झूठी कविता क्यों लिखे? उन्होंने अंग्रेजों के विरुद्ध देश को चेतावनी दी। उनके एतद् विषयक प्रसिद्ध गीत के तीन द्वाले नीचे दिए जाते है :—

आयो इँगरेज मुल्क रै ऊपर, आहँस लीधा खैचि उरा।
धणियाँ मरे न दीधी धरती, धणियाँ ऊभाँ गई धरा ॥१॥
फौजाँ देख न कीधी फौजाँ, दोयण किया न खला डला।
खवाँ खाँच चूडै खावँद रै, उणहि ज चूडै गई यला ॥२॥
छत्रपतियाँ लागी नँह छाणत, गढपतियाँ धर परी गुमी।
बल नँह कियो बापडा बोताँ, जोताँ जोताँ गई जमी ॥३॥
बाँकीदास का समय सवत् १८३८ से १८९० है।

जब बाँकीदास के ऐसे प्रयत्न भी पूरे पड़ते न दिखाई दिए तो सूर्यमल मीसण ने एक अभूतपूर्व उपाय निकाला। उन्होंने नारी से सम्बन्धित २८२ दोहों की 'सतसई' का निर्माण किया। उनकी नारी तेजस्विता और वीरता की प्रतिमूर्ति है। जब नारी देशहेतु युद्ध में मर मिटने को तैयार है, तो पुरुष क्यों न हो! कवि ने वस्तुतः नारी के माध्यम से गदरकालीन सोये वीर पुरुषों को परोक्ष रूप से प्रबुद्ध करना चाहा था। 'मरण' का महत्त्व उनकी नारी ने सिखाया —

इला न देणी आपणी, हालरियाँ हुलराय।
पूत सिखावै पालणै, मरण बडाई माय ॥

कहना न होगा कि कवि के ये कथन उस समय में जितने सत्य थे, उतने आज भी हैं, और

जबतक देश प्रेम की भावना रहेगी, वे वैसे ही रहेंगे। सूर्यमल ने देशी-नरेशों को प्रेरणा देते हुए देश पर छाती हुई पराधीनता की काली घटा को रोकना चाहा था। दैव-दुर्विपाक से उनका यह कार्य पूरा नहीं हुआ। इसी कारण तत्कालीन राष्ट्रीय जीवन की झलक स्वरूप उनकी 'सतसई' में एक करुण रस पूरित अन्तःसलिला भी बहती दिखाई देती है।

उनके पश्चात् इसी परम्परा के अन्य महाकवि शंकरदान ने इस कार्य को सम्भाला। उन्होंने देशी नरेशों से कोई आशा न रखकर बड़े बड़े जागीरदारों को देश पर आई आपत्ति को दूर करने को प्रेरित किया। उन्होंने सदैव शोषित और दलित लोगों के हितों की रक्षा की, अपनी कविता और कार्य दोनों के द्वारा। लोक ने उनके गीतों को बंदूक की गोली की उपमा दी है :—

संकरियै सामौर रा गोळी जेहड़ा गीत।
मिंत ज साँचा मुलक रा, रिपुवाँ उलटी रीत॥

शंकरदान का समय सं० १८८१ से १९३५ है। उनकी मृत्यु पर कहे गए सिढायच दयालदास, गारब देसर ठाकुर, गिरधारी सिंह और चारणवास के गोसाईं गणेशपुरीजी के मर्सियों से उनकी महत्ता प्रकट होती है। ये क्रमशः नीचे दिए जाते हैं :—

(क) रह्यौ हितू बण रैंत रो, लाग लपट सह तोड़।
नान्हां मिनखाँ हित लड़्यौ, मुलक तंणो सिर मोड़॥

(ख) नँह जणजे जग मैं निलज, दीण हीण दबकेल़।
बेमाता हेकण भलै, जण संकर जबरेल़॥

(ग) बळी बीकपुर बाजतो, हो संकर सिरताज।
गिरवर डिंगळ रो गुड़्यौ, इण मुरधर मैं आज॥—मुखश्रुति से संग्रहीत।

कवि ने अंग्रेजों की नीति, डूँगजी-जवारजी, ताँतिया टोपे आदि के सम्बन्ध में राष्ट्रप्रेम से ओत-प्रोत और भावोल्लास भरे गीत लिखे हैं। अंग्रेजों की नीति सम्बन्धी यह गीत अपने ढंग का अकेला ही है :—

वाणिजां नीत हित देस जांणो बुरी, नफै हूँ भलो ओ बुरो नापै।
कुलखणां देस हित काज करसी किसा, दुखियाँ री लूट हूँ नँह धापै॥१॥
बिणज रो नाम ले आया वण बापड़ा, तापड़ा तोड़िया राज ताँईं।
मोको पा मुगलांण रो मांण जिण मारियौ, पोखो थां कुँण कयाँ समझ काँईं ?॥२॥
धोळ दिन देखताँ नबाबी धपाई, सँताई बेगमां अवध साही।
खोड़ला फौज हिनवांण री खपाई, सफाही नाखो मत सरम साई॥३॥

धरा हिनवाण री दावर्‌या धकें सू, प्रगट मैं लड्‌याँ ही पार पड़सी ।
सगट मै एक हुय भेद मेटो सकल, लोक जद जोस हू जबर लडसी ॥४॥
मिल मुसलमान रजपूत औ मरेठा, जाट सिख पथ छडि जबर जुड़सी ।
दौडसी देस रा दवियोडा दाकल कर (तो) मुल्क रा मीठा टग तुरत मुडसी ॥५॥
भरोसो छाँडि फिरगाण रो भ्रम्यौडा, देखसी नफो नुकसाण नधी ।
नवौनित भान किरसाण निपजायसी, (तो) पायसी फतै हिनवाँण पकी ॥६॥

—मुखश्रुति से

यही नहीं, देश की तत्कालीन सामाजिक राजनैतिक स्थिति का भी अत्यन्त मार्मिक करुण चित्रण कवि ने किया। कतिपय दोहे द्रष्टव्य हैं —

हा नेहो तो हूँत, सतोखी रहिया सदा ।
आखा आज अछूत, क्या वापडा रामजी ॥१॥
देस मगन दोखीह, सोखी आज सुवारथी ।
अब होगी ओखीह, रहणी इज्जत रामजी ॥२॥
हुयग्या सह हुक्काम, मिल अगरेजा हूँ मुरख ।
आज दुख्यारण आम, रैत बापड़ी रामजी ॥३॥
रह्यौ सह्यौ रुजगार, अगरेजाँ खोस्यौ अठे ।
भूखी किण विध भार रैंयत झालै रामजी ॥४॥
कविना ने गिणकार, राजावाँ सग कवि रुल्या ।
गिणिया गया गिंवार, रह्या सह्या म्हे रामजी ॥५॥
उगल्या धण अणमोल, अलकार जाजू अवस ।
सखरा सबद सतोल, रैत न जांगै रामजी ॥६॥
घरकां पर कर घात, तरवाराँ सूतै तुरँत ।
बीरोटण री बात, रही इणी मैं रामजी ॥७॥
सजा मुखमली सेज, नर सोवै हुय हुय निसक ।
वे काटा रा बेज, रती न जाणै रामजी ॥८॥
आज सग टग ओह, महला जिम धण मजलो ।
उपरोयली अस्योह, रुलो झूपड्‌याँ रामजी ॥९॥
पेखू निजर पसार, सुणवालो दीसै न सच ।
कू कुण ने किरतार, राज बिना हो रामजी ॥१०॥

महल ज लूटण मोकला, चढ्या सुण्य चिंगज ।
लूटण भूँपा लालची, आया बस इंगरेज ॥११॥
माथा देणां मुलक नै, कारज सहज न काय ।
जंणै अनड़ इसड़ा जिको, मोत्यां मूंघी माय ॥१२॥—मुखश्रुति से

कवि के एक एक छंद के पीछे कितने भाव उमड़ रहे हैं, यह कहने की आवश्यकता नहीं है।

यही नहीं उर्मिला-विषयक कुछ भी न लिखने के कारण इन्होंने ही सर्वप्रथम तुलसीदास को उलाहना दिया था :—

तुलसी धिन धिन तोय, रची सकल मानस मयण ।
महा अचंभो मोय, उरमिल त्याग न औलख्यौ ॥—मुखश्रुति से

शंकरदानजी अपने समय के श्रेष्ठ कवियों में से एक, जागरण के वैतालिक, क्रान्ति के अग्रदूत और उत्साह के शक्ति-पुञ्ज थे। उनकी कविताओं में दलित मानवता के काँपते स्वरों ने सशक्त वाणी पाई थी। देश प्रेम और राष्ट्रीयता उनकी कविता में साकार हुई थी।

विचारशील पाठक निर्णय करें कि इस काल में ऐसे कवियों का महत्त्व क्या है। हिन्दी के सन्दर्भ में इन १००। १२५ वर्षों में निर्मित राजस्थानी साहित्य की देन कुछ शब्दों से नहीं आँकी जा सकती ; ऊपर केवल कुछ संकेत ही किए गए हैं।

ऊपर कतिपय मर्सिये उद्धृत किए गए हैं। मर्सिया या पीछोला राजस्थानी साहित्य की अपनी विशेषता है, जिसकी परम्परा आज तक विद्यमान है। मर्सिये की कुछ विशेषताएँ ये हैं :—

(क) यह किसी की मृत्यु पर कहा जाता है जिसमें मरनेवाले के प्रमुख कृत्यों, उनके प्रभाव महिमा, विशेषता, सफलता आदि का भावभरा चित्रण रहता है।

(ख) यह चित्रण दिवंगत आत्मा के कार्य और स्वभाव की समग्रता में होता है।

(ग) यह चित्रण करुणरस पूरित, प्रेम और श्रद्धा भरे भावों से ओतप्रोत होता है।

(घ) इसमें बिछुड़नेवाले के न होने के कारण हार्दिक दुख और वेदना का मार्मिक वर्णन होता है।

(ङ) यह वर्णन व्यक्तिगत होते हुए भी सामूहिक प्रतीत होता है।

(च) आडम्बर रहित, आयास-हीन, दैनन्दिन प्रयोग की सरल भाषा का प्रयोग किया जाता है। भावों की प्रधानता होती है जिसमें कथन की सच्चाई और निश्छलता अनिवार्यतः निहित होती है।

(छ) अन्त में स्वय को किसी न किसी प्रकार से सांत्वना दी जाती है, पर यह बात सभी मर्सियों में नहीं पाई जाती ।

मर्सिया किस पर कहा जाय इसका कोई नियम या बन्धन नहीं है। मर्सियों का पूरा रसास्वादन तभी किया जा सकता है, जब उससे सम्बधित पूर्ण प्रसग ज्ञात हो।

(क) बाघा कोटड़ा पर कहे गए बारहट आसानन्द के मर्सिये तो सर्व-प्रसिद्ध ही हैं, जिसके प्रसंगोल्लेख की आवश्यकता यहाँ नहीं है। एतद्विषयक पाँच दोहे ये हैं '—

हूँक कलेजै मांह, दाटूँ पण दूणी दगै ।
घू धलिया धड़मांय, बरला उठै बाघजी ॥१॥
बाघैजी बिन कोटड़ो, लागै यों अहड़ोह ।
जानी घरे सिधाविया, जांणै मांटवड़ोह ॥२॥
लाखों बालद ल्याव, कीरत रो सोदो करै।
एकरस्यां घिर आव, विणजारो ह्वै बाघजी ॥३॥
ठौड़ ठौड़ पगदौड, करस्यां पेटज कारणै ।
रात दिवस राठौड, वीसरस्यां नँह बाघनै ॥४॥
हाल हिया सिव वाड़ियाँ, पग दे पाँवड़ियाँह ।
बाघै सू बातों करौं, गल दे बाँहड़ियाँह ॥५॥—राजस्थान पीछोला से

(ख) प्रसिद्ध नाथ योगी लाडूनाथजी [illegible]पुर के महाराजा मानसिंह के समकालीन थे। वे अत्यन्त गुणग्राही और सर्वतोमुखी [illegible]तिभावान थे। उनकी मृत्यु पर कहे गए दो दोहे द्रष्टव्य हैं —

कवियाँ करो कतार, [illegible] खड़ियाँ सघसी हमैं।
हाथ्याँ बगसणहार, [illegible]रग लागौ लाडुवौ ॥१॥
विरगा लागैबाग, [illegible]सा लागै मोरिया ।
जोगी हे तूँ जा[illegible] दरसँण दे देवाहरा ॥२॥—राजस्थान पीछोला से

(ग) सत्रहवीं शताब्दी [illegible] विष्णोई सम्प्रदाय में बील्होजी एक महान् सिद्ध कवि हुए हैं। सिद्ध-साहित्य में वे अनेक नव[illegible] साहित्य-विधाओं के भी उत्स थे। उनके देहावसान पर उनके शिष्य सुप्रसिद्ध महाकवि सुरज[illegible]सजी ने कई छप्पयों और दोहों में मर्सिये कहे थे। दो छन्द नीचे दिए जाते हैं —

सुकत ग्यान सले[illegible] दीनपति पुरी दापवै।
मीठलदास चलेह, [illegible]पलै न सारी मुरधरा ॥१॥

धूम जप धारणां, ग्यांन भारी गुण सागर।
सहज सील संतोष, कियौ पंथ महा उजागर।
मुष दीठाँ दुख जाय, दुख सह मिटै दुरजंण।
लख गुण लभतां, किया दोय वील्ह अवगंण।
दुरिजंणा साल सैणां दई, जोती श्री देवां जयौ।
वीछड़ै जीव लागी विरह, अजे नेसासौ न गयौ ॥२॥—हस्तलिखित ग्रंथ से

वर्तमान में विभिन्न युद्धों में जीवन की आहुति देनेवाले अनेकशः वीरों-पीरूसिह शैतानसिंह आदि तथा देशभक्त नेताओं—नेहरूजी और शास्त्रीजी पर राजस्थानी कवियों ने भावभरे मर्सिये कहे हैं। यही नहीं वीररस के कवि और राजपूती परम्परा के समग्रता में प्रतीक जोबनेर ठाकुर साहब रावल नरेन्द्र सिंहजी के हाल ही में हुए स्वर्गवास पर राजस्थानी के विद्वान, कवि श्री शम्भुसिह मनोहर ने अत्यन्त मार्मिक मर्सिये लिखे हैं।

(क) राजस्थानी में विक्रम सोलहवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध से आख्यान काव्य मिलने लगते हैं। किसी गत घटना के वर्णन को आख्यान कहते हैं। आख्यानों की कथावस्तु रामायण, महाभारत, पुराण और इतिहास-ग्रंथों से ली जाती है जो प्रायः सबकी जानी-पहचानी होती है। ये अनेक प्रकार की प्रचलित देशी राग-रागिनियों में गेय तथा प्रधानतया सुनने के लिए ही होते हैं। कथारम्भ होते ही श्रोतागण उसको सहजभाव से समझने लगते हैं। विभिन्न पात्र और घटनाएँ क्रमशः आती और स्पष्ट होती चलती हैं। प्रायः सभी रसों का समावेश रहता है किन्तु भक्तिभाव की मुख्यता रहती है। मनोरंजन के साथ साथ इनसे धार्मिक संस्कारों की रक्षा सुरुचि-निर्माण उदात्त-गुण-ग्रहण-प्रेरणा एवं भक्ति के प्रचार-प्रसार में बड़ा योग मिलता है। नाटकीय तत्त्वों का पर्याप्त मात्रा में समावेश रहता है। संवाद और वर्णन छोटे छोटे होते हैं; इनमें प्रधानता प्रायः संवादों की होती है। इस प्रकार आख्यान में कथा काव्य संगीत और नाटक-सभी की मिलीजुली विद्यमानता रहती है। भाषा लोगों की बोलचाल की होती है; अतः इनका प्रभाव बहुत व्यापक और गहरा पड़ता है। इसी कारण ये समाज के प्रत्येक वर्ग में पहुंच कर लोकप्रिय हो जाते हैं।

(ख) राजस्थानी में ऐसे बहुत से आख्यान-काव्य उपलब्ध होते हैं, जिनमें विष्णोई सम्प्रदाय के कवियों की देन विशेषरूप से उल्लेखनीय है। इन कवियों ने पौराणिक और ऐतिहासिक विषयों पर अनेक मोहक और हृदयग्राही आख्यानों की रचना की है। पौराणिक आख्यानों में इनके प्रसिद्ध आठ काव्यों का नामोल्लेख यहाँ किया जाता है:—

कवि डेल्ह कृत कथा अहमनी (अभिमन्यु-आख्यान)
पदम भगत कृत हरजी रो व्यॉंवलो (कृष्ण रुक्मिणी विवाह-आख्यान)
मेहोजी गोदाराकृत रामायण
केसोजी गोदारा कृत पहलाद चिरत
कथा वहसोवनी (पाण्डवों का स्वर्णयज्ञ सम्बन्धी आख्यान)
कथा सुरगारोहणी („ स्वर्गवास „
कथा भीव दुसासणी (भीम का दुशासन को मारना—)

तथा सुरजनदास पूनियाकृत उपा पुरांण।

उदाहरणार्थ 'कथा अहमनी' से कुछ पक्तियाँ नीचे उद्धृत की जाती हैं —

चक्रव्यूह युद्ध में अभिमन्यु का जाना निश्चित समझकर युधिष्ठिर ने विराट से उसकी पत्नी उत्तरा को हस्तिनापुर लाने के लिए योजना बनाई और इस हेतु 'रैवारियाँ' को बुलाया। राजा और 'रैवारियों' का 'साँढ़ों' [ऊँटनियां] के सम्बन्ध में हुआ यह सवाद दर्शनीय है —

रैवारी भीतरि तेड़ाया तेड़ै दहुटल राय।
कतरी साँढों थारै भणजै घड़ियाँ जोयण जाय।
पैलो रैवारी इणि परिबोलै, राजाजी अवधारि।
छोट किर्नोड़ी तीखै कॉंनै, साँटीड़ा सै च्यारि॥
भरहा काला सरवण फाला कया मजीठी वानी।
वाली से तो वाव न सहिस्यै से क्यों सहिस्यै पाँनी॥

दूजो रैवारी इणि परि बोलै राजा सांभलि वात।
वार वार ये काँयाँ बुझौ, साँढीड़ा से सात॥
लाँबस्ली लहकती हालै, न्यौल मुँही भरवगी।
घडी घड़ी के जोयण हालै मुकराँणी भरचगी॥
घुघरमाल जँहीं गल घातो, केई छे मुकरांणी।
सांढीड़ा रै ओढीड़ाँ रै पेट न लहकै पांणी॥
रातडी नै चोल मजीठी मगरै काली रेह।
वाँवाँ सूँ डघकेरो हालै भुँय उडै ज्यू खेह॥—हस्तलिखित ग्रथ से

विराट जाते समय इनका वर्णन देखिए —

वाली राग चढ़्या रैबारी आय जुहार्‌यौ राय ।
गलती रात उठंती करकी वाए मिलिया वाय ॥
काजलियौ पग काठो कुँहुँटो करहो काढै कांन ।
साँपाँ ज्यूँ सलकंती हालै, ज्यू वंतूलै पांन ॥
केई घड़ी रातड़ी चलाई ; गीण विलंबी खेह ।
जोजंन जोजंन करै करूका ज्यूँ उतराधौ मेह ॥—हस्तलिखित ग्रंथ से

शुद्ध लौकिक प्रेम काव्यों की सृष्टि और उपलब्धि राजस्थानी साहित्य की विशेष थाती है जो इसको प्राकृत और अपभ्रंश के काव्यों से विरासत में मिली है। ढोला-मारू, जेठवा-ऊजली, सेणी-बीजानन्द, सदयवत्स-सावलिंगा आदि से सम्बन्धित काव्य ऐसे ही हैं। इनमें प्रेमी-प्रेमिकाओं के विरह, मिलन और तद्‌जन्य परिस्थितियों के उमड़ते हुए भाव-चित्र मिलते हैं। मरुदेशीय जीवन, संस्कृति और लोकमानस की ये सही झाँकी प्रस्तुत करते हैं। यहाँ यह कह देना अनुचित न होगा कि ढोला-मारू की तुलना जायसी के पद्‌मावत से करना शुद्ध बुद्धि-विलास है, क्योंकि दोनों की परम्पराएँ, प्रेरक-शक्ति, जीवन-दृष्टि उद्देश्य और काव्य-रूप सभी भिन्न हैं। इसी प्रकार का कार्य इन काव्यों में ऐतिहासिक तथ्य खोजना है। राजस्थानी प्रेम काव्यों में पाया जानेवाला प्रेम और उसके रस भीने उद्‌गार, विरह-मिलन, रोदन अत्यन्त स्वाभाविक, स्वस्थ और कुण्ठाओं से मुक्त हैं।

पौराणिक-धार्मिक काव्यों में रामचरित के पश्चात् राजस्थानी में कृष्ण–रुक्मिणी-प्रसंग को ही वर्णन का विषय अधिक बनाया गया है, व्रज-विहारी, राधाकृष्ण और गोपीकृष्ण को नहीं। इसके मूल में विवाह बन्धन द्वारा सामाजिक मर्यादा को कायम रखने की महत्ता और भावना का होना है। आध्यात्मिक या भक्तिपरक दृष्टि से चाहे परकीया प्रेम को किसी भी प्रकार से उचित बताया जावे किन्तु उसका सामाजिक रूप और परिणाम ग्राह्य नहीं हो सकता। हिन्दी के रीति या शृंगार काल में 'राधिका-कन्हाई' के बहाने जिस साहित्य का निर्माण हुआ है, वह हिन्दी की व्यापक, स्वस्थ और सही परम्परा नहीं कही जा सकती। राठौड़ पृथ्वीराज, झूला सायाँ आदि के कृष्ण-रुक्मिणी विषयक काव्य सर्व प्रसिद्ध हैं।

राजस्थानी का वीररसात्मक साहित्य तो सर्वविदित ही है। परिमाण और काव्योत्कृष्टता की दृष्टि से यह भरापूरा है। यह प्रबन्ध [चरितकाव्य, कथा काव्य] और मुक्तक दोनों रूपों में उपलब्ध है। हिन्दी में वीर रसात्मक कृतियों में भूषण, लाल जैसे दो-चार इने-गिने कवियों की कृतियाँ ही प्राप्त होती हैं। राजस्थानी के इस साहित्य को पाकर हिन्दी की गौरव-वृद्धि तो होगी ही उसकी एक बड़ी क्षतिपूर्ति भी हो जाएगी। प्रश्न है कि इस साहित्य के इतने

जीवन्त और उत्कृष्ट कोटि के होने के कारण क्या हैं? शृंगारादि शेष रसों की कविताओं के लिए तो अध्ययन अनुभूति संस्कार और भाषाभिव्यक्ति की आवश्यकता है जब कि वीर रस की सुन्दर रचना के लिए इनके अतिरिक्त व्यावहारिक ज्ञान और अनुभव का होना परमावश्यक है। इस कारण कुर्सी मेज के सहारे और सब रसों से युक्त कविता तो की जा सकती है किन्तु वीर रस की नहीं। उसके लिए युद्ध और युद्ध से सम्बन्धित अनेक प्रकार की सामग्री-जैसे व्यूह-रचना, हथियार, उनका उपयोग और प्रहार, युद्ध वाहन, रण-कौशल, युद्ध के सामूहिक प्रभाव आदि अनेक बातों का व्यावहारिक रूप से सूक्ष्म ज्ञान होना पहली शर्त है। यदि किसी का ऐसा ज्ञान नहीं है तो केवल कल्पना के सहारे वीररसात्मक काव्य का सृजन मात्र दुस्साहस का काम होगा। यहाँ के चारण और अन्य कवि न केवल युद्ध में वीरों को प्रोत्साहित ही करते थे प्रत्युत स्वय भी लड़ते और मरते थे। इसके एक दो नहीं सैकड़ों उदाहरण दिए जा सकते हैं। कवि अपनी कथनी को करनी के रूप में सत्य करता था। यही कारण है कि भारती के इन सपूतों ने साक्षात् वीर रस को अपने-अपने काव्यों में उतारा है। देश में इसकी प्रशसा उचित ही हुई है। युद्ध वर्णन के लिए ध्वनिसूचक शब्दों का चयन अनिवार्य है। ऐसे शब्दों की मूल विशेषता बोलना और सुनना है, केवल पढ़ने से उनका मर्म नहीं जाना जा सकता। इसी प्रकार चित्रात्मक ढँग से भी वर्णन किया जाता है, जिसमें वर्ण्यवस्तु का चित्र खींचकर उसकी अभिव्यजना पर बल दिया जाता है। इसके तीन उदाहरण प्रस्तुत हैं —

(क) सूर्यमल मीसण कृत वशभास्कर के शत्रुसाल चरित्र से, (पृ० २६७५) —

सणणकै खुरसाण खागधारौं खणणकै।
रणणकै रणराग झल्लम पाखर झणणकै।
चणणकै भड चिहुर छीजि कातर छणणकै।
टणण कै टामक भ्रमर फीला भणण कै।
ठणण क घट गदर्ल ठहै, गणणकै पलचर गयण।
हणण य हींस है गाम हय, जय कणण कै वदि ज ण ॥१२॥५॥

(ख) विष्णोई कवि सुरजनजी कृत राम रासो से—जामवत युद्ध प्रसग—

जामवत जम केस देस थम थरकै।
पड़ै समदां पारि सूर मरि दैत सरकै।
नाग पप पपराय धध मा रत सिंधारै।
सूर दैत सुर सुपि विढै चकडह विडारै।

उलटैं भीछं पलटैं मलेछ, अरध लंक जड़ उधड़ै ।
रिणषेत विटंतां राकसां, पहलि केस बाबर पड़ै ॥६३॥

लंका में हनुमान युद्ध :—

गुण तसलीम प्रवाडां गाहक सति भड हुँत कोपिया सिरि ।
छिलता असर छछोहा छूटा, किलंब चहुँ दिस चोट करि ॥४५॥
घाव चोट निहंस घरहरै, झाल दुंग ऊछलैं झम्फ ।
वूही तेग मेर सिरि वजर, बजर देह पगधार बज ॥४६॥

(ग). खिड़िया जग्गा रचित वचनिका राठौड़ रतनसिंहजीरी से :—

रलतलि नीर जिंहीं रुहिराल । खलाहलि जाणि कि भाद्रव खाल ॥
भड़ां धड़ भंजि हुवै बिबिभग्ग । खड़क्खड़ टल्ल झड़ज्झड़ खग्ग ॥
कड़क्कड़ बाजि धड़ां किरमाल । बड़ब्बड़ भांजि पड़ंत वंगाल ।
दड़ब्बड़ मुंड खड़ब्बड़ दीस । अड़ब्बड़ लेत चड़च्चड़ ईस ॥
अंत्रा खग झाट निराट अलग्ग । पड़ै बिबि भग्ग पड़ै झड़ि पग्ग ।

केवल यही नहीं युद्ध को केन्द्र-बिन्दु मान कर उसकी परिधि में आनेवाले सभी कार्य-व्यापारों, वस्तुओं और प्रभाव को दृष्टिगत रखकर अनेकशः कवियों ने इस काव्य को चरम सीमा पर पहुँचा दिया। मरण भी यहाँ त्यौहार है और दुर्गुण भी गुण है। प्रतिशोध भावना दुर्गुण है, किन्तु यहाँ वह गुण बन कर ही आता है। आज की परिभाषा में राष्ट्रप्रेम की भावना अपेक्षाकृत नवीन हो सकती है, किन्तु उसके समस्त उपादान यहाँ के वीर काव्यों में बहुत पहले से ही विद्यमान हैं। यह काव्य प्रेरणा का अजस्र स्रोत और गौरव-भावना का अक्षय भण्डार है।

ऐतिहासिक काव्य :—

वीररसात्मक काव्य में किसी न किसी घटना, वर्णन और नायक को आधार बनाना ही पड़ता है। यह बात पृथक है कि किसी काव्य में इन तीनों में से किसी के सम्बन्ध में अधिक अतिशयोक्तिपूर्ण कथन किया जाता है या कम। यहाँ के कवियों ने अपने-अपने काव्यों में सत्य का पालन अवश्य किया है, घटनाओं या वर्णनों को विकृत रूप में प्रस्तुत नहीं किया। अतिशयोक्ति उनमें हो सकती है। वीरमायण के कवि बादर ढाढी की भाँति अनेक कवियों

ने तो अपने काव्य के चरितनायक की दुर्बलताओं और अन्यायपूर्ण कार्यों की ओर भी सकेत करने में सकोच नहीं किया है। बहुत से काव्यों ने तो इतिहास की उलझी गुत्थियों को भी सुलझाया है। धरमत के युद्ध की प्रमाणित तिथि (शुक्रवार, वैसाख बदिए, सवत् १७१५, छन्द—१७२) का निश्चय वचनिका राठौड रतनसिघजीरी से ही हुआ है। कामराँ के बीकानेर पर आक्रमण और राव जैतसी के हाथों उसकी पराजय की पुष्टि बीठू सूजा कृत छन्द राव जैतसी रो तथा अज्ञात कवि रचित जैतसी छन्द आदि काव्यों से होती है। राव रणमल और सत्ताभाटी के सम्बन्ध में खिड़िया चानण के दोहों से उनकी मृत्यु के कारण, बचाव के लिए व्यूह-रचना आदि का पता चलता है, जो इतिहास ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं है (द्रष्टव्य लेखक का 'खिड़िया चानण अज्ञात रचनाएँ' नामक निबन्ध , (बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पत्रिका, वर्ष ६, अक २, सन् १९६६)। ऐसी ही अनेक प्रबन्ध और मुक्तक रचनाओं से इतिहास का पथ प्रशस्त हुआ है, यह इस विषय के विद्वान् मुक्तकण्ठ से स्वीकार करते हैं। अत डा० धीरेन्द्र वर्मा का यह कथन कि ऐतिहासिक ग्रन्थों की कमी, असमी को छोड़कर, भारतीय आर्य भाषाओं में खटकती है, (हिन्दी भाषा का इतिहास , भूमिका) निराधार है। इसी प्रकार पृथ्वीराज रासौ के सम्बन्ध में डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी का 'फैक्टस् और फिक्शन' वाला वक्तव्य भी इन काव्यों पर लागू नहीं होता।

ऐसी मुक्तक कविताओं की सख्या तो अपरिमेय है। इस सम्बन्ध में अधिक कुछ न कह कर उनकी कतिपय विशेषताओं की ओर इगित किया जा सकता है —

(क) घटना-विशेष या तथ्य विशेष पर प्रकाश डालना,
(ख) प्रतिबोध कराना,
(ग) उत्साह-वृद्धि करते हुए प्रेरणा देना,
(घ) यथातथ्य या समयोपयोगी वर्णन द्वारा उचित मार्ग निर्देश का प्रयास करना,
(ङ) किसी सत्य का स्पष्ट रूप से उद्घाटन करना,
(च) साखरी कविता के रूप में किसी घटना, व्यक्ति, वर्णन या स्मृति को सुरक्षित रखना,

कथा काव्य चरित काव्य प्रबन्ध काव्यों में ऐसे काव्यों की प्रभूत परिमाण में रचना हुई है, जिनमें अनेक का प्रकाशन भी हो चुका है। जैन, चारण और सिद्ध काव्य-परम्परा में ऐसे अनेक काव्य मिलते हैं। इनकी विषयवस्तु मुख्यतया पौराणिक, ऐतिहासिक, अर्द्ध-ऐतिहासिक, काल्पनिक और ऐतिहासिक-काल्पनिक आदि आदि होती है। कहना यह है कि महाकाव्य और खण्डकाव्य की प्रचलित तुला से इनको नहीं तोला जा सकता , दोनों के तत्वों और उपादानों में पर्याप्त भेद है। पृथ्वीराज रासौ यद्यपि राजस्थानी की रचना नहीं है

तथापि वह उससे प्रभावित पिंगल की कृति है और महाकाव्य नहीं, जैसा कि विद्वान खींच तान कर बताया करते हैं, बल्कि चरित काव्य है।

राजस्थानी के विष्णोई कवियों ने इनके अतिरिक्त अनेक कथाख्यान और चरिताख्यान काव्यों का भी निर्माण किया है जो उनकी नवीनता कही जा सकती है। स्पष्ट ही उन्होंने चरित, कथा-विशेष को आख्यान-काव्यों के समकक्ष रखने का प्रयास किया है। वील्होजी, केसौजी आदि ऐसे ही कवि हैं।

'शिष्ट साहित्य के समान ही इसका लोकसाहित्य भी भरापूरा है। पद्य और गद्य-दोनों में इसकी छटा दिखाई देती है। यह काव्य प्रबन्ध और मुक्तक दोनों रूपों में उपलब्ध है। यह जातीय जीवन का प्रतीक है। इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय बात यह है कि अनेक लोकगीतों और लोककाव्यों की प्राचीनता का पता देनेवाले प्रामाणिक स्रोत भी यहाँ उपलब्ध हैं। विभिन्न लोकगीतों की ढालों पर अनेक कवियों ने अपनी अपनी रचनाओं का वंधान किया है। उन्होंने अपनी रचना के आदि में सम्बन्धित लोकगीत की प्रथम पंक्ति देकर उसकी ढाल का निर्देश कर दिया है। यह साधन अन्यत्र दुर्लभ है। 'जैन गुर्जर कविओ' में ऐसी २४५१ देशियों की सूची दी गई है, जिससे साहित्य-संसार भली भाँति परिचित है।

गद्य की दृष्टि से राजस्थानी साहित्य के समान समृद्ध शायद ही किसी मध्ययुगीन आर्य भाषा का साहित्य हो। यह समृद्धि प्राचीनता, रूप विविधता, व्यापकता, कलात्मकता और प्रेषणीयता की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यहाँ का गद्य-साहित्य वात, ख्यात, वचनिका, व्याख्या आदि अनेक रूपों में मिलता है। इनके भी भेदोपभेद किए जा सकते हैं। कलात्मकता और प्रेषणीयता के कारण राजस्थानी का अपने गद्य-साहित्य पर गर्व होना उचित ही है। अनेक प्रकार की 'वातें'; नैणसी, दयालदास की ख्यातें, अचलदास खीची और राठौड़ रतनसिह से सम्बन्धित 'वचनिका' और वंशभास्कर में उपलब्ध 'सचरण गद्यम्' तथा ऐसे ही प्रचुर परिमाण में प्राप्त गद्य रचनाएँ इसकी विशालता और महत्ता की द्योतक हैं। यह बड़े खेद की बात है कि हिन्दी में इतिहास लेखक गद्य के नाम पर प्रधानतया खड़ीबोली-गद्य की ही चर्चा करके अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ लेते हैं।

राजस्थानी काव्य अनेक रूपों में अभिव्यक्त हुआ है। डिंगल गीत, गेयपद, दोहा, दोहा-चौपई, झूलणा, नीसाणी, छप्पय, वचनिका, वेलि, आदि अनेकशः काव्यरूपों की दीर्घ परम्परा इस साहित्य का महत्त्व प्रकट करने के लिए पर्याप्त है। ध्यातव्य है कि ये 'छन्द-विशेष हैं, जो 'काव्य रूप' का बाना पहन कर प्रकट हुए हैं। राजस्थानी विद्वानों ने समय समय पर इनके काव्यरूपों का काफी स्पष्टीकरण किया है।

हिन्दी में दोहा मुक्तक काव्य का ही वाहन है, यहाँ यह प्रबन्ध का भी है। ढोला मारू, माधवानल कामकन्दला आदि अनेक प्रबन्ध काव्य दोहा रूप में ही हैं। 'गीत' तो केवल राजस्थानी की ही देन है। अन्य किसी भी भारतीय आर्यभाषा में इसके समकक्ष या ऐसा कोई छन्द विधान नहीं पाया जाता। 'गीतड़ा कै मींतड़ा' कहावत गीतों के महत्त्व और परिमाण की द्योतक है। काव्य में 'वैणसगाई' का दृढ़तापूर्वक पालन इस साहित्य की एक और विशेषता है, यहाँ तक कि सिद्ध-कवियों ने भी भक्ति रसपरक गीतों तथा दोहा आदि छन्दों में इसका निर्वाह किया है। कविराजा सूर्यमल मीसण को भी इसके पालन में शिथिलता के लिए अपनी सफाई देनी पड़ी थी।

राजस्थानी की छन्दशास्त्रीय और कोषगत उपलब्धियाँ उल्लेखनीय हैं। सत्रहवीं शताब्दी से छन्द और कोष ग्रंथों के संकलन-निर्माण की परम्परा मिलती है जो अद्यावधि किसी न किसी रूप में चली आई है। पिंगल-सिरोमणि, रघुवरजस प्रकास, रघुनाथ रूपक गीताँ रो आदि एतद्विषयक प्रमुख कृतियों का प्रकाशन भी हो चुका है। श्री सीताराम लालस द्वारा सम्पादित 'राजस्थानी सबद कोष' कोषों के क्षेत्र में एक महान् उपलब्धि है। इसकी टक्कर का कोष हिन्दी परिवार की भाषा-बोलियों में अभी बनना बाकी है। आधुनिक काल में राजस्थानी में लिखित व्याकरण ग्रंथों में श्री रामकरण आसोपा का मारवाड़ी व्याकरण एतद् विषयक प्राचीनतम रचना है। यह लगभग ६० वर्ष पूर्व लिखी गई थी।

राजस्थान के इतिहास, राजस्थानी भाषा और साहित्य ने आधुनिक काल में केवल हिन्दी ही नहीं, सुदूर बंगला साहित्य तक को प्रभावित किया है। हम विद्वानों का ध्यान इस बात की ओर विशेष रूप से आकृष्ट करना चाहते हैं कि पिछले लगभग १२० सालों से, सन् १८२९ से १९४७ तक, राष्ट्रप्रेम की भावना को जगाने, सतत दृढ़ रखने, शक्ति और आत्मविश्वास का सम्बल प्रदान करने में राजस्थान के इतिहास तथा यहाँ की शत-शत वीरगाथाओं का बड़ा भारी हाथ रहा है, जिसका माध्यम सन् १८२९ में प्रथम बार प्रकाशित कर्नल टाड का 'राजस्थान' बना। मरण-लालसा, दुर्धर्ष युद्धाग्नि में हँसते हँसते जानबूझ कर अपने जीवन को होम करना और उस हवन-ज्वाला द्वारा देशप्रेम की झिलमिलाती लौ को जिन्दा रखना, विकट से विकट परिस्थितियों में आजीवन स्वाभिमान और गौरव की टेक के लिए जूझते रहना, हर कीमत पर आदर्शों की रक्षा करना, राजस्थान के इतिहास और साहित्य ने भली-भाँति सिखाया है। राजस्थान के इतिहास से अनुप्रेरित और प्रभावित हिन्दी ही नहीं, अन्य प्रान्तीय भाषाओं का तत्कालीन साहित्य इसका बोलता प्रमाण है। हिन्दी के आधुनिक काल को यह देन सरस्वती की भाँति है, जिसको पहचानना अभी शेष है।

अनेक परमाणुओं के संघात से बने बाह्य भौतिक वस्तु के प्रति हम 'एक' की धारणा रखते हैं परन्तु यह एकत्व की धारणा भ्रान्त है, निरन्तर एवं सजातीय परमाणुओं के ग्रहण के फलस्वरूप उत्पन्न होती है (का० ३५) और यह हमारा विकल्प है (का० ३६)। संघात रूप में ही परमाणु एकत्वीय क्रिया का सम्पादन करते हैं और इसलिये वे अद्रव्य नहीं हो सकते हैं (का० ४०)।

स्वपक्ष विरोधी 'दिग्भागभेद' के आधार पर परमाणु के सिद्धान्त की वसुबन्धु द्वारा आलोचना तर्कसंगत नहीं है ; कारण, हम मानते हैं कि दिग्भाग परमाणुओं से पृथक् नहीं है। जब हम दिग्भाग की बात करते हैं तो हम उसका अर्थ स्वयं परमाणुओं के विशेष विस्तार से लेते हैं (का० ४५-४६)। अवयविन् की धारणा भी अतर्कसंगत है। परमाणुओं के संघातरूप में होने के फलस्वरूप आप यदि इसे संभव समझें तो उचित होगा कि आप नैरन्तरीय पूर्व और पर क्षणों को एक अवयविक क्षण मानें। परमाणुओं के बीच प्रत्यासत्ति होने से उनके बीच किसी आगन्तुक का प्रवेश संभव नहीं है और इस प्रत्यासत्ति के कारण ही परमाणुओं का अन्य परमाणुओं द्वारा आवरित होना माना जाता है, अतः परमाणु में अवयव है, ऐसा मानने में कोई युक्ति नहीं है (का० ५२) यद्यपि परमाणु अप्रत्यासन्न (unrelated) और अवयवहीन हैं, वे संघात का रूप लेते हैं और अनुग्रह विशेष के कारण पृथ्वी आदि स्थूल वस्तुओं का उद्भव करते हैं (का० ५६-५७)। कुछ ही परमाणु द्रव्यशक्ति के कारण संघात में जाते हैं, अन्य अल्प-शक्ति के कारण वैसा नहीं कर सके हैं (का० ५८-५९)। केवल योगी ही परमाणुओं की गणना कर सके हैं, अतः उनके अस्तित्व को समझते हैं यद्यपि हम उन्हें ग्रहण नहीं करते हैं (का० ६५)।

इसके बाद लेखक 'सहोपलम्भनियम' के सिद्धान्त को परीक्षा के लिये लेता है और विचार करते हुए कहता है कि ज्ञान मात्र ग्राहक है और वह भी किसी दृश्यमान विषय के सान्निध्य में। अतः वे (ग्राहक और ग्राह्य) एक ही काल में गृहीत होते हैं लेकिन यह उनके एकत्व सिद्ध नहीं करता है (का० ६७)। कथित हेतु कई प्रकार से दोषपूर्ण कहा गया है— यह अनियत है कभी विरोधी और कभी असिद्ध आदि। 'सह' शब्द सदा 'सहवर्ती' का [illegible]ता है और यदि मूलतः सह-वेदना है तो तर्क स्पष्ट रूप से अंगीकृत के विरोध को सिद्ध [illegible] अन्य व्यक्तियों को विषय का जो अनुभव होता है उसे इस आधार पर अस्वीकार नहीं [illegible] कि वह हमारे अनुभव से अलग है। लेखक के अनुसार जब ज्ञान के करण इन्द्रियादि [illegible] क्षण में विद्यमानता परवर्ती क्षण में इन्द्रिय विज्ञान को उत्पन्न करती है तो उसे सहवेदना [illegible] है (का० ८२)। वस्तुतः ज्ञान ग्राह्य नहीं है, परन्तु औपचारिक रूप से

भदन्त शुभगुप्त के अनुसार बाह्यार्थ को सत्यता

न० अइयास्वामी शास्त्री

भदन्त शुभगुप्त धर्मकीर्ति-युगोपरान्त के बहु-विदित वैभाषिक आचार्य हैं। इन्होंने बौद्ध दर्शन से सम्बन्धित अनेक पुस्तकें लिखी हैं जिनमें बाह्यार्थसिद्धिकारिका प्रमुख है। इसमें १९० अनुष्टुप्छन्द हैं। प्रचुर पादटिप्पणियाँ, व्याख्याएँ तथा प्रत्येक कारिका के साथ ही संस्कृत रूपान्तर देते हुए मैंने इसका अनुवाद अंग्रेजी में किया है जो शीघ्र ही प्रकाशित होगा। इसके तिब्बती संस्करण को भी सावधानी से संपादित किया गया है। मैं विद्वानों का ध्यान इस ओर आकर्षित करना चाहता हूँ कि किस विश्वसनीय ढंग से लेखक ने वसुबन्धु दिग्नाग, धर्मकीर्ति आदि विज्ञानवादियों द्वारा अपने सिद्धान्त के प्रतिपादन में दिये गये तर्कों विशेषकर धर्मकीर्ति के लोकप्रसिद्ध तर्क — सहोपलम्भनियमादभेदो नील-तद्धियोस का खण्डन किया है।

अत यह अनपेक्षित नहीं होगा यदि हम कारिका में आये उल्लेखों का संक्षिप्त विवरण दें। शुभगुप्त प्रारम्भ में ही विज्ञानवाद के पक्ष में दिये गये बड़े ही तर्कसंगत तर्कों में से एक स्वप्नानुभवों की ओर इंगित करते हैं। (देखिए वसुबन्धु की विंशतिका, कारिका ३)। वे जागृतावस्था के अनुभवों एवं स्वप्नों के बीच के भेद को दिखलाते हुए इस तर्क का खण्डन करते हैं। जागृतावस्था के अनुभवों में कभी विरोध नहीं होता जबकि स्वप्नों में सदा विरोध रहता है। हमारे सभी ज्ञान और अनुभव भ्रान्त हैं, योगाचारियों की इस मान्यता के विरोध में लेखक कहता है कि हमारी इन्द्रियों में कुछ दोष रहने से ज्ञान भ्रान्त हो सकता है लेकिन यह कहना कि इन दोषों के अभाव में भी भ्रान्ति होती है, विश्व में नितांत अन्धकार फैलाना है (कारिका ३१)।

परमाणुओं का पृथक् पृथक् ज्ञान नहीं हो सकने के कारण दिग्नाग परमाणुओं के अस्तित्व को नहीं मानते हैं। लेखक यह कहते हुए खण्डन करता है कि एकैक अपरिच्छेद प्रमाण नहीं है। उदाहरण के रूप में, चित्त और चैत्तसिक का पृथक् पृथक् अनुभव नहीं होता तथापि उनका अस्तित्व सत्य है (का० ३३, ३४)। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि चित्त आदि का उदाहरण कुछ सौत्रान्तिक आचार्यों के लिये असिद्ध है, वे चित्त और चैत्तसिक के पृथक्-पृथक् अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते हैं (दे० हरिवर्मन के सत्यसिद्धि शास्त्र के अध्याय ६०-६४)। शुभगुप्त मानते हैं कि परमाणु जीवन में विच्छिन्न रूप में उत्पन्न नहीं हो सकते हैं और जब वे संघात रूप में उत्पन्न होते हैं तो उनकी परमाणुगत विशिष्टता नष्ट हो जाती है। अत वे पूछते हैं कि प्रत्येक परमाणु हमारे विज्ञान में कैसे प्रतिभासित होता है? (का० ४३)

अनेक परमाणुओं के संघात से बने बाह्य भौतिक वस्तु के प्रति हम 'एक' को धारणा रखते हैं परन्तु यह एकत्व की धारणा भ्रान्त है, निरन्तर एवं सजातीय परमाणुओं के ग्रहण के फल-स्वरूप उत्पन्न होती है (का० ३५) और यह हमारा विकल्प है (का० ३६)। संघात रूप में ही परमाणु एकरूपीय क्रिया का सम्पादन करते हैं और इसलिये वे अ-द्रव्य नहीं हो सकते हैं (का० ४०)।

स्वपक्ष विरोधी 'दिग्भागभेद' के आधार पर परमाणु के सिद्धान्त की वसुबन्धु द्वारा आलोचना तर्कसंगत नहीं है ; कारण, हम मानते है कि दिग्भाग परमाणुओं से पृथक् नहीं है। जब हम दिग्भाग की बात करते हैं तो हम उसका अर्थ स्वयं परमाणुओं के विशेष विस्तार से लेते हैं (का० ४५-४६)। अवयविन् की धारणा भी अतर्कसंगत है। परमाणुओं के संघातरूप में होने के फलस्वरूप आप यदि इसे संभव समझें तो उचित होगा कि आप नैरन्तरीय पूर्व और पर क्षणों को एक अवयविक क्षण मानें। परमाणुओं के बीच प्रत्यासति होने से उनके बीच किसी आगन्तुक का प्रवेश संभव नहीं है और इस प्रत्यासति के कारण ही परमाणुओं का अन्य परमाणुओं द्वारा आवरित होना माना जाता है, अतः परमाणु में अवयव है, ऐसा मानने में कोई युक्ति नहीं है (का० ५२) यद्यपि परमाणु अप्रत्यासत (unrelated) और अवयवहीन हैं, वे संघात का रूप लेते हैं और अनुग्रह विशेष के कारण पृथ्वी आदि स्थूल वस्तुओं का उद्भव करते हैं (का० ५६-५७)। कुछ ही परमाणु द्रव्यशक्ति के कारण संघात में जाते हैं, अन्य अल्प-शक्ति के कारण वैसा नहीं कर सके हैं (का० ५८-५९)। केवल योगी ही परमाणुओं की गणना कर सके हैं, अतः उनके अस्तित्त्व को समझते हैं यद्यपि हम उन्हें ग्रहण नहीं करते हैं (का० ६५)।

इसके बाद लेखक 'सहोपलम्भनियम' के सिद्धान्त को परीक्षा के लिये लेता है और विचार करते हुए कहता है कि ज्ञान मात्र ग्राहक है और वह भी किसी दृश्यमान् विषय के सान्निध्य में। अतः वे (ग्राहक और ग्राह्य) एक ही काल में गृहीत होते हैं लेकिन यह उनके एकत्व को सिद्ध नहीं करता है (का० ६७)। कथित हेतु कई प्रकार से दोषपूर्ण कहा गया है— कभी यह अनियत है कभी विरोधी और कभी असिद्ध आदि। 'सह' शब्द सदा 'सहवर्ती का बोध करता है और यदि सत्यतः सह-वेदना है तो तर्क स्पष्ट रूप से अंगीकृत के विरोध को सिद्ध करेगा। अन्य व्यक्तियों को विषय का जो अनुभव होता है उसे इस आधार पर अस्वीकार नहीं कर सकते कि वह हमारे अनुभव से अलग है। लेखक के अनुसार जब ज्ञान के करण इन्द्रियादि की पूर्ववर्ती क्षण में विद्यमानता परवर्ती क्षण में इन्द्रिय विज्ञान को उत्पन्न करती है तो उसे सहवेदना कहा जाता है (का० ८२)। वस्तुतः ज्ञान ग्राह्य नहीं है, परन्तु औपचारिक रूप से

उसे ग्राह्य कहा जाता है, क्योंकि वह स्वभावत अपने विषय को ग्रहण करता है। परन्तु विषय ग्राह्य है, कारण वह स्व-ज्ञान को उत्पन्न करता है (का० ८५)। ज्ञान कैसे ग्रहण करता है? इस प्रश्न के उत्तर में लेखक कहता है कि ज्ञान बाह्य वस्तुओं के परिच्छेदन करने के समान कार्य करता है (का० ९०-९२)।

यहाँ ध्यान देने योग्य है कि लेखक सौत्रान्तिकों की तरह नहीं कहता कि ज्ञान अपने विषय के आकार को अपनाते हुए ग्रहण करता है। बल्कि कहता है कि आकार जिसे आप विषय ज्ञान में निहित मानते हैं, सत्यत वह केवल बाह्य वस्तुओं में ही है, ज्ञान में नहीं (का० ९६)। चित्तमात्रता के प्रतिपादकों का आकारवाद को समर्थन नहीं मिलता है कि विचार ही अस्तित्व का अंतिम स्तर हैं। लेखक के तर्कों से यह सुस्पष्ट है कि "जिस प्रकार आप कहते हैं कि वस्तुत निराकार ज्ञान अपने अभूत आकार का अनुभव करता है उसी प्रकार मैं भी कहता हूँ कि निराकार ज्ञान अस्तित्ववान् वस्तुओं का अनुभव करता है (का० १०२)। वह अपनी मान्यता को और स्पष्ट करते हुए कहता है कि निराकार विज्ञान चक्षु आदि भौतिकेन्द्रियों के माध्यम से (विषय को) ग्रहण करता है" (का० १०४)। इसप्रकार लेखक आकारवाद को प्रतिपक्ष के लिये प्रतिकूल बना देता है।

जब यह माना जाता है कि विज्ञान का आकार उसके विषय के आकार के अनुरूप बनता है तो कैसे कहा जा सकता है कि विज्ञान उसका परिच्छेदन करता है (का० ९०)? जब हम मानते हैं कि अपने विषय के विद्यमान रहने पर ही विज्ञान उत्पन्न होता है तो उस सम्बन्ध में आप का प्रश्न कि यह कैसे होता है युक्ति सगत नहीं है (का० ९१)। विज्ञान अपने विषय का कारक नहीं, तथापि लोग इसके विषय के सम्बन्ध, अपने सामान्य अनुभव से इसमें कारक-व्यापार आरोपित करते हैं (का० ९२)। लेखक का अस्तित्ववादी सिद्धान्त उसकी उक्तियों से स्पष्ट है कि बाह्य वस्तुओं के ग्रहण की प्रक्रिया योगी और पृथक् जन (साधारण जन) में समान है। भेद मात्र इतना ही है कि योगी अनासक्त और सर्वाकारधिय होकर ग्रहण करता है जबकि पृथक्जन उसमें आसक्त होकर (का० ९४)। इस मान्यता के बाद ही लेखक बुद्ध के लिये विशेष अधिकार का समावेश करता है। बुद्ध की ज्ञानशक्ति संदेह का विषय नहीं चाहे वह क्रमश या परपरागत रूप में विषय का परिच्छेदन करे या वह विषय के आकार को ग्रहण करे या न करे (का० ९५)? क्रम से क्रिया के सम्पादन का जो ज्ञान का सामान्य नियम है उसमें सभी प्रकार के अपवाद के विरोधी सौत्रान्तिकों को यह मान्य नहीं भी हो सकता है—वसुबन्धु द्वारा इस नियम की सुस्पष्ट व्याख्या इस प्रकार की गई है —

सन्तानेन समर्थत्वात् यथाग्निः सर्व-युग मतः।
तथा सर्वविद् एष्टव्यो न सकृत् सर्व-वेदनात्॥ कोषकारिका IX १।

क्रमवेदना हरिवर्मन का भी विचार है। (सत्यसिद्धि, पञ्चवस्तुक—विभाषा, पृ० २७ विश्वभारती एनल्स् X)।

यह देखना रोचक होगा कि स्व-संवेदना सिद्धान्त के पक्ष में दिये गये बहु-विदित प्रदीप के उदाहरण को लेखक ने किस प्रकार अपने अनुकूल बनाया है—जिस तरह आप मानते हैं कि प्रदीप स्व एवं पर को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार मैं मानता हूँ कि ज्ञान सजातीय दो या अधिक आलम्बनों के स्वरूप को प्रकाशित करता है (का० १०७)। अतः शुभगुप्त के अनुसार चक्षु-विज्ञान आदि एककाल में अपने आभासगत द्रष्टव्य वस्तुओं का परिच्छेदन कर सकता है। इस प्रकार चित्रास्तरण (दरी के अनेक रंग) का ग्राह पूर्णतः तर्क संगत है।

योगाचार की मान्यता है कि ज्ञान अपने विषयों की तरह स्व-भाव को ग्रहण करता है और इस तरह जो ग्राह्य है वह ज्ञान का ही एक अंग मात्र है। लेखक का यहाँ विचार है कि तथागत-वाणी अन्य सभी वस्तुओं की तरह अनित्य आदि है—यह स्पष्ट नहीं करता कि वस्तुओं से वहां स्वयं विज्ञान के भावों का अभिप्राय है (का० १०४)। कुछ आचार्य मानते हैं कि पूर्ववर्ती ज्ञान परवर्ती के लिये आलम्बन का काम करता है, यह लेखक को मान्य नहीं है, कारण कोई ज्ञान निश्चितरूप से पूर्ववर्ती का अनुसरण नहीं करता है (का० ११८-१९)। कुछ अन्य आचार्यों का सोचना है कि ज्ञानोत्पादक शक्ति को ही आलम्बन माना जाता है, परन्तु यह भी युक्ति संगत नहीं है, कारण ऐसी कोई शक्ति हमारे इन्द्रिय विज्ञान में अनुभूत नहीं है (का० १२०-२१)। अन्त में लोक प्रमाण और आगम के आधार पर यह कहा गया है कि केवल वाह्य वस्तुओं को ही इन्द्रिय जन्य अनुभव का आलम्बन मानना युक्तिसंगत है (का० १२३-२४)। लेखक आगे कहता है कि वाह्यवस्तुओं की स्थापना केवल उनकी विद्यमानता में उनकी सामान्य क्रिया-सामर्थ्य से ही नहीं होती, बल्कि उस क्रिया-सामर्थ्य का विपर्यय ज्ञान में भी अनुभव होने से होती है (का० १२९-३१)। इसका अर्थ है कि जब हम रस्सी को सर्प समझ लेते हैं और उस पर पैर रख देते हैं तो तत्क्षण ही उसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप हम आतंकित हो जाते हैं।

लेखक के अनुसार परिचित-विजानन ज्ञान असत्य नहीं बल्कि स्वाभाविक है। परचित को उसी तरह जान सकते हैं जिस तरह किसी वाह्य-वस्तु को। हमारे चित्त द्वारा विषय का ग्राह उसकी ओर गतिमानता नहीं है बल्कि परिच्छेदन मात्र है। बुद्ध सर्वज्ञ हैं क्योंकि वे ग्रहण-शक्ति के द्वारा सम्पूर्ण विश्व को जानते हैं (का० १४७-४८)। वाह्य वस्तुओं के अभाव

मे कोई भी सर्वज्ञ नहीं हो सकना (का० १५०)। लेखक उसे स्वीकार नहीं करता, जो दिग्नाग ने प्रथम क्षण में ही विषय के अनिर्दिष्ट रूप के ग्रहण के सम्बन्ध में कहा है (का० १४९)। और न तो दिग्नाग के प्रथम क्षण मे विकल्प रहित चित्त के सिद्धान्त से सहमत है (का० ११५)। लेखक दिग्नाग के स्व-सवेदना सिद्धान्त के पक्ष मे भी नहीं है। उसकी दृढ़ धारणा है कि ज्ञान सदा ग्राहक है, कभी ग्राह्य नहीं होता। साधारणतया ऐसा विश्वास किया जाता है कि स्वसवेदन का सिद्धान्त सौत्रान्तिकों ने कालान्तर में ज्ञान की स्मृति के आधार पर प्रतिपादित किया है (दे० मध० अवतार अद VI ७२ तवपृ० १६७ मेरा सस्कृत पाठ ६०) और जिसे दिग्नाग और उनके अनुयायियों ने भी माना है (दे० भाषा स० I, II)। यद्यपि शुभगुप्त स्वसवेदना के पक्ष मे नहीं है। वे स्मृति की 'अतीत वस्तुओं की ओर उन्मुख चित्त मात्र रूप में व्याख्या करते है। अत यह ग्राह्य नहीं है क्योंकि यह आलम्बन से उत्पन्न नहीं होता है (१४५-४६)। केवल वैभाषिक ही नहीं, माध्यमिक भी स्वसवेदना को मान्यता देना अस्वीकार करते है। माध्यमिक का मत है कि स्मृति सभव है यदि ग्राहक रूप में विज्ञान अतीत से सम्बन्धित हो (बोधि० पञ्जिका पृ० ४०१, १६)।

आगे लेखक योगाचारियों के सिद्धान्तों के कुछ और दोषों की ओर इगित करता है। जब हम किसी वस्तु के वाह्यार्थ को मानते हैं तभी उसके प्रति अनात्म का चिन्तन सभव है, लेकिन इस प्रकार का चिन्तन विज्ञानवाद में सभव नहीं (का० १४९)। बुद्धत्व जो आपके अनुसार पूर्ण निर्व्यापार की अवस्था है, किसी उद्योग के विना प्राप्त किया जा सकता है। जो व्यक्ति धन आदि को चित्त मात्र ही समझते हैं वे उस दानचित्त को बारबार उत्पन्न करके भी किसी गरीब को गरीबी से मुक्त कराने में समर्थ नहीं होते (का० १६८)। ये कुछ आपत्तियाँ हैं जो विज्ञानवाद के विरुद्ध उठायी जाती है, अत चित्तमात्रता के सम्बन्ध के आगमवाक्यों को अक्षरश नहीं लेना चाहिये। शुभगुप्त के अनुसार उनकी व्याख्या इस प्रकार है —बुद्ध ने वाह्य वस्तुओं के कल्पित रूप के प्रसग में (चित्रमात्रता) की बात कही है, परन्तु इसका (चित्रमात्रता का) यह अर्थ नहीं होता कि वाह्य वस्तुएँ परमार्थत अस्तित्त्वहीन हैं (का० १७९)। इसीप्रकार काम सुख के प्रति पृथग्जनों की सभी आसक्तियों को दूर करने के लिये बुद्ध ने वस्तुओं के कल्पित रूप के प्रसग मे अनात्म का उपदेश दिया (का० १६०)। कई स्थानों पर ऐसा कहा गया है कि वाह्य वस्तुएँ उन्हीं रूपों में नहीं है जैसा कि पृथग्जन उन्हें समझते हैं।

अन्त में अपने सिद्धान्त का सक्षिप्त सारांश देते हुए कहते हैं कि कुछ कल्पित है, कुछ विकल्पित और धर्मता। कल्पित मात्र आश्रयवस्तु परमाणु है, विकल्पित कल्पित का विभेद (जैसे पृथ्वी

आदि) और धर्मता स्वलक्षण है। इन तीनों में प्रथम और अन्तिम को लेखक सत्य मानता है और द्वितीय (विकल्पित) को असत्य। यह व्याख्या वैभाषिकों के सिद्धान्त के समरूप लगती है।

वाल्मीकि और संगीत

कैलासचन्द्रदेव बृहस्पति

नाट्यशास्त्र के अनुसार, आदिकाव्य रामायण के प्रणेता भगवान् वाल्मीकि उन ऋषियों में हैं, जिन्होंने नाट्यशास्त्र का उपदेश भरत मुनि से प्राप्त किया। इसीलिए आदिकाव्य रामायण को पाठ्य और गेय दोनों में ही मधुर कहा गया है, तन्त्री पर अवसर के अनुसार इसकी योजना द्रुत, विलम्बित और मध्य लय में की जा सकती है। षड्जा, आर्षभी, गान्धारी, मध्यमा, पञ्चमी, धैवती और नैषादी इन सातों रागजननी जातियों का रसानुसारी विनियोग इसमें सम्भव है। गान्धर्व के तत्त्व को समझनेवाले वे व्यक्ति जो वीणा के मन्द्र, मध्य और तार स्थानों में अभीष्ट मूर्च्छना के स्थापन में समर्थ हैं, आदिकाव्य को इन्हीं रूपों में प्रस्तुत करते थे।[1]

महर्षि वाल्मीकि ने राम के पुत्र कुश और लव को रामायण के गेय रूप का उपदेश स्वयं किया था और उन दोनों से कहा था कि तुम लोग ऋषियों के यातायात के मार्गों में, ब्राह्मणों के निवास स्थानों में, राजमार्गों और गलियों में (अश्वमेध में निमन्त्रित) राजाओं के घरों में, राम के भवन के द्वार पर और विशेषतया ऋत्विजों के समक्ष रामायण का गान करना। फलों और मूलों का सेवन करने से न तो तुम लोग थकोगे ही और न राग भ्रष्ट होगे। यदि रामायण सुनने के लिए तुम्हें महाराज राम बुलायें तो विराजमान ऋषियों के समक्ष मेरी की हुई गान-योजना के अनुसार गाना। मेरे उपदेश के अनुसार द्रुत, विलम्बित और मध्य लय का उपयोग करते हुए एक एक दिन में बीस-बीस सर्गों का गान करना। धन की इच्छा से तनिक भी लोभ न करना, क्योंकि फल मूल का सेवन करनेवाले आश्रमवासी व्यक्तियों का धन से क्या करना है? यदि राम पूछें कि तुम किनके पुत्र हो, तो इतना ही कहना कि हम

---

1 काव्य रामायणं कृत्स्नं सीतायाश्चरितं महत्।
पौलस्त्य वधमित्येव चकार चरितव्रत ॥
पाठ्ये गेये च मधुरं प्रमाणैस्त्रिभिरन्वितम्।
जातिभिः सप्तभिर्युक्तं तन्त्रीलयसमन्वितम्।
रसैः शृङ्गार करुण हास्यरौद्रभयानकैः।
वीभत्सादद्भुतसंयुक्तं काव्यमेतदगायताम् ॥
तौ तु गान्धर्व तत्त्वज्ञौ मूर्च्छना स्थान कोविदौ।
भ्रातरौ स्वर सम्पन्नौ गन्धर्वाविव रूपिणौ ॥

बाल०, अध्या ४, श्लोक ७ १०

वाल्मीकि के शिष्य हैं। ये मधुर तन्त्रियां हैं, इन्हें मन्द्र, मध्य एवं तार स्थान में मिलाकर प्रसन्न मन से मधुर रूप में गाना।२

भगवान् रामचन्द्र ने जिस परिषद् में कुशीलव अर्थात् कुश और लव का गान सुना था उसमें राजा, पण्डित, पौर तथा सभी कलाओं के विशेषज्ञ निमन्त्रित किए गए थे ; इनमें गान्धर्व के विशेषज्ञ भी थे।३ इन दोनों भाइयों ने जो गान किया वह ताल और लय से युक्त, अच्छे स्वर और शब्दों में गुम्फित, और तन्त्री के स्वर, लय और भाषा के व्यञ्जनों से गुम्फित था।४

कुशलव के द्वारा प्रयुक्त गान-प्रकार को वाल्मीकि-रामायण में पूर्व आचार्य द्वारा विनिर्मित

---

२. स शिष्यावब्रवीद् धृष्टौ युवां गत्वा समाहितौ।
कृत्स्नं रामायणं काव्यं गायतां परया मुदा ॥
ऋषिवाटेषु पुण्येषु ब्राह्मणावसथेषु च।
रथ्यासु राजमार्गेषु पार्थिवानां गृहेषु च।
रामस्य भवनद्वारि यत्र कर्म च कुर्वते।
ऋत्विजामग्रतश्चैव तत्र गेयं विशेषतः ॥
इमानि च फलान्यत्र स्वादूनि विविधानि च।
जातानि पर्वताग्रेषु आस्वाद्यास्वाद्य गायताम् ॥
न यास्यथः श्रमं वत्सौ भक्षयित्वा फलान्यथ।
मूलानि च सुमृष्टानि न रागात्परिहास्यथः ॥
यदि शब्दापयेद्रामः श्रवणाय महीपतिः।
ऋषीणामुपविष्टानां यथायोगं प्रवर्तताम् ॥
दिवसे विंशतिः सर्गा गेया मधुरया गिरा।
प्रमाणैर्बहुभिस्तत्र यथोद्दिष्टं मया पुरा ॥
लोभश्चापि न कर्तव्यः स्वल्पोऽपि धनवाञ्छया।
किं धनेनाश्रमस्थानां फलमूलाशिनां सदा ॥
यदि पृच्छेत्स काकुत्स्थो युवां कस्येति दारकौ।
वाल्मीकेरथ शिष्यौ द्वौ ब्रूतमेवं नराधिपम् ॥
इमास्तन्त्रीः सुमधुराः स्थानं वाऽपूर्वदर्शनम्।
मूर्च्छयित्वा सुमधुरं गायतां विगतज्वरौ ॥ उत्तर० ९३ सर्ग ४-१३

३. उत्तरकाण्ड अध्याय ९४, श्लोक ४-९

४. शुश्राव तत्ताललयोपपन्नं सर्गान्वितं सुस्वरशब्दयुक्तम्। उत्तर० स० ९४, श्लो० ३१

कहा है और रामायण के प्रसिद्ध टीकाकार राम नामक विद्वान् ने इस पूर्व-आचार्य का अर्थ भरत मुनि ही किया है।

कुछ आधुनिक विद्वान् वाल्मीकि रामायण के बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड को प्रक्षिप्त मानते हैं, ऐसे लोगों के मनस्तोष के लिए उन काण्डों से सामग्री प्रस्तुत की जा रही है जो अन्य काण्डों में मिलती है।

अयोध्यापुरी की सांगीतिक स्थिति को स्पष्ट करनेवाले प्रमाण अयोध्याकाण्ड में कम नहीं हैं।

भगवान् राम के राज्याभिषेक की तैयारी के समय वादित्रों के संघ, गणिकाएं और अलङ्कृत सुन्दरियां विद्यमान थीं।५ मुरज और पणव इत्यादि वाद्यों के मेघ गर्जन के समान शब्द से महाराज दशरथ का महल गूंजा करता था।६ जिस दिन राम का राज्याभिषेक होनेवाला था, उस दिन प्रभातवेला में श्रुतिशील गायक गा रहे थे, जो तन्त्रियों में अभीष्ट श्रुतियों का विभाजन करने में समर्थ थे।७ समर्थ वादक वाद्यों का वादन कर रहे थे। राजमहल में पले हुए विभिन्न पक्षी इस ध्वनि से जाग कर अपने-अपने पिंजरों में चहकने लगे थे। पवित्र शब्दों का उच्चारण हो रहा था, वीणाओं की मधुर ध्वनि गुंजित हो रही थी और आशीर्वचनों एवं प्रशंसा-गीतों से वह भवन पूर्ण हो गया था।८

भरत की ननसाल गिरिव्रज में भी वादन, लास्य और नाटक का प्रभूत प्रचार था।९

---

५ सर्वे वादित्र संघाश्च वेश्याश्चालङ्कृता स्त्रियः। अयो० सर्ग १४, श्लो० ४०

६ मुरजपणवमेघघोषवद् दशरथवेश्म बभूव यत्पुरा।
अयो० सर्ग ३९, श्लो० ४१

७ गायकाः श्रुतिशीलश्च निगदन्त पृथक् पृथक्।
अयो० सर्ग ६५, श्लो० २

८ ततस्तु स्तुवतां तेषां सूतानां पाणिवादकाः।
अपदानान्युदाहृत्य पाणिवादान्य वादयन्॥
तेन शब्देन विहगाः प्रतिबुद्धा विसस्वनुः।
शाखास्था पञ्जरस्थाश्च ये राजकुल गोचराः॥
व्याहृताः पुण्यशब्दाश्च वीणानां चापि निःस्वनाः।
आशीर्गेय च गाथानां पूरयामास वेश्म तत्॥
अयो० सर्ग ६५, श्लो० ४-६

९. वादयन्ति तथा शान्ति लासयन्त्यपि चापरे।
नाटकान्यपरे प्राहुर्हास्यानि विविधानि च॥ अयो० सर्ग ६९, श्लो० ४

जब उन्होंने ननसाल में दुःस्वप्न देखा, तब उनके विनोद के लिए गान, वादन, नृत्य की सभाएँ आयोजित की गईं। भरत जब ननसाल से अयोध्या में आए तब उन्हें अयोध्या में भेरी, मृदंग और वीणा का शब्द न सुनाई दिया और उन्हें अमङ्गल की आशङ्का होने लगी।१०

किष्किन्धापुरी में भी संगीत का भलीभांति प्रचार था। वहां के वानरजातीय व्यक्ति मृदङ्ग ध्वनि के साथ नाचते थे और वह नगरी गीत और वाद्य से भलीभांति गूंजती रहती थी।११

लङ्कापुरी के अन्तःपुर में हनुमान रात्रि के समय पहुंच गए हैं। उन्होंने देखा कि रावण के अन्तपुर में नृत्यवाद्य में कुशल सुन्दरियां सम्भवतः नाचती और गाती हुई ही थककर सो गई हैं। वाल्मीकि कहते हैं कि कोई सुन्दरी वीणा को हृदय से लगाये ही सो गई है और ऐसा प्रतीत हो रहा है मानो महानदी में बहती हुई किसी नलिनी को पोत का आश्रय मिल गया हो। कोई छोटे से मण्डूक को बगल में लिए सो रही है, मानो छोटे बच्चेवाली वात्सल्यमयी मां हो।

कोई पटह नामक वाद्य पर अपने वक्ष का भार डाले सो रही है, मानो उसे चिरकाल के पश्चात् पति का आलिङ्गन प्राप्त हुआ हो। कोई वीणा का आलिङ्गन किये सो रही है मानो उसने प्रियतम को बाहुपाश में जकड़ रखा हो। कोई नर्तकी विपञ्ची नामक अंगवीणा को बाहों में लिए निद्रामग्न थी। मृदङ्ग, पणव और डिंडिम को लिए भी सुन्दरियां सो रही हैं।१२

---

१०. भेरी मृदङ्ग वीणानां कोण संघट्टितः पुनः।
किमद्य शब्दो विरतः सदाऽदीनगतिः पुरा॥ अयो० सर्ग० ७१, श्लो० २९

११. गीतवादित्र निर्घोषः श्रूयते जयतां वर।
नर्दतां वानराणां च मृदङ्गाडम्बरैः सह॥ कि०, सर्ग, २७, श्लो० २७

१२. काचिद्वीणां परिष्वज्य प्रसुप्ता सम्प्रकाशते।
महानदी प्रकीर्णेव नलिनी पोतमाश्रिता॥
अन्या कक्षगतेनैव मड्डुकेनासितेक्षणा।
प्रसुप्ता भामिनी भाति बालपुत्रेव वत्सला॥
पटहं चारुसर्वाङ्गी पीड्य शेते शुभस्तनी।
चिरस्य रमणं लब्ध्वा परिष्वज्येव कामिनी॥
काचिद् वीणां परिष्वज्य सुप्ता कमललोचना।
रहः प्रियतमं गृह्य सकामेव हि कामिनी॥
विपञ्चीं परिगृह्यान्या नियता नृत्यशालिनी।
निद्रावशमनुप्राप्ता सहकान्तेव भामिनी॥

नाट्यशास्त्र की परम्परा में वीणा केवल मत्तकोकिला नामक वाद्य को कहते हैं जिसमें तीन सप्तकों के इक्कीस स्वरों के लिए इक्कीस तार होते हैं और विपञ्ची एक अन्य वाद्य है जिसमें नौ तार होते हैं—सात मूल स्वरों के लिए और दो अन्तर गान्धार और काकली निषाद के लिए। वाल्मीकि ने वीणा और विपञ्ची जैसे सारिकाहीन वाद्यों की चर्चा तो की है, परन्तु किन्नरी जैसे सारिकायुक्त वाद्य की चर्चा नहीं की है। वस्तुत उस युग में सारिकायुक्त वाद्यों का आविष्कार ही नहीं हुआ था।

हनुमान् रावण की पानभूमि में भी गए थे। वहाँ भी उन्होंने गीत, वादन, नृत्य आदि से थकी हुई और मदिरा के मद में चूर कामिनियों को मुरजों, मृदङ्गों और चेलिका नामक ताल वाद्योंपर लुढ़के हुए देखा।१३

महर्षि वाल्मीकि ने प्रकृति में भी सगीत का दर्शन भली-भाँति किया है। पम्पासरोवर को देख कर राम कहते हैं —

'पवन फूलों के भार से लदी हुई डालियोंवाले वृक्षों की टहनियों को हिलाता हुआ शब्द कर रहा है। और चचल भ्रमर अपनी गूज से उसकी संगति कर रहे हैं। पर्वतों की कन्दराओं से निकलता हुआ पवन गीत जैसा प्रतीत हो रहा है, जो (मत्तकोकिला वीणा के क्वण के समान) उन्मत्त कोकिलों के शब्द से पादपों को नचा जैसा रहा है'।१४

वर्षाकाल में वन की प्राकृतिक शोभा को देखकर राम कहते हैं —

'तन्त्री की मधुर ध्वनि के समान भौंरों ने अपनी गूज छेड दी है, मेढ़कों ने अपने शब्द

अन्या कनकसङ्काशैर्मृदुपीनैर्मनोरमै ।
मृदङ्ग परिपीड्याङ्गै प्रसुप्ता मत्तलोचना ॥
भुजपार्श्वान्तरस्थेन कक्षगेन कृशोदरी ।
पणवेन सहानिन्द्या सुप्ता मदकृतश्रमा ॥
डिण्डिम परिगृह्यान्या तथैवासक्त डिण्डिमा ।
प्रसुप्ता तरुण वत्स मुपगुह्य व भामिनी ॥ सु० कां० सर्ग १०, ३७-४४

१३ क्रीडितेनापरा क्लान्ता गीतेन च तथा पर
नृत्येन चापरा क्लान्ता पानविप्रहतास्तथा ॥
मुरजेषु मृदङ्गेषु चेलिकासु च सस्थिता ।
तथास्तरण मुख्येषु सनिष्टाश्चापरा स्त्रिय ॥ सु० सर्ग ११, ४, ५

१४ मत्तकोकिलसन्नादै र्नर्तयन्निव पादपान्।
शैलकन्दर निष्क्रान्त प्रगीत इव चानिल ॥ कि०, सर्ग १, १५

के रूप में सूत्रधार के समान कण्ठताल आरम्भ कर दिया है और मृदङ्गों जैसी ध्वनि मेघ करने लगे हैं, कहीं नाच कर, कहीं केकाध्वनि करके, कहीं अपने सुन्दर पंख फैलाकर मोर प्रसन्न हैं, वनों में संगीत जैसा छा गया है' ।१५

शरद् ऋतु की श्री को देखकर राम कहते हैं :—

'उषःकाल में पवन के संचार से शब्द हो रहा है, उसमें वेणु के स्वरों से व्यञ्जित सांगीतिक ध्वनि मिश्रित है। बैलों की रंभाहट और कन्दराओं में पवन का शब्द परस्पर संवर्द्धन कर रहे हैं' ।१६

रामायण के पात्रों में रावण और हनुमान् दोनों की प्रसिद्धि संगीताचार्यों के रूप में है। हनुमान् के साथ प्रथम परिचय के पश्चात् भगवान् राम हनुमान् के विषय में कहते हैं :—

'जिस प्रकार हनुमान् ने सम्भाषण किया है, उस प्रकार वह व्यक्ति नहीं कर सकता जिसने ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद का अध्ययन विधिपूर्वक विनीत भाव से न किया हो। अवश्य ही हनुमान् ने समस्त व्याकरण गुरुमुख से पढ़ा है, क्योंकि समस्त सम्भाषण में कहीं भी त्रुटि नहीं हुई; मुख, नेत्र, ललाट भौंह में कहीं दोष नहीं दिखाई दिया। इन्होंने वाणी में हृदयस्थित और कण्ठस्थित मध्यम स्वर का आश्रय लिया। इनके वाक्य अव्यर्थ, असन्दिग्ध, अविलम्बित और अनायास रहे। यदि हनुमान् पर कोई तलवार ताने खड़ा हो, तो भी ये उर, कंठ और मूर्धा नामक स्थानों से व्यक्त की हुई अपनी विलक्षण वाणी के द्वारा उसे वशीभूत कर लेंगे' ।१७

१५, षट्पादतन्त्रीमधुराभिधानं प्लवङ्गमोदीरितकण्ठतालम् ।
आविष्कृतं मेघमृदङ्गनादैर्वनेषु सङ्गीतमिव प्रवृत्तम् ॥ कि०, सर्ग २८, श्लो० ३६
क्वचित्प्रनृत्तैः क्वचिदुन्नदद्भिः क्वचिच्च वृक्षाग्रनिषण्णकायैः ।
व्यालम्बबर्हाभरणैर्मयूरैर्वनेषु सङ्गीतमिव प्रवृत्तम् ॥ कि०, सर्ग २८, श्लो० ३७

१६, वेणुस्वरव्यञ्जिततूर्यमिश्रः प्रत्यूषकालेऽनिलसम्प्रवृत्तः ।
सम्मूर्च्छितो गर्गरगोवृषाणामन्योन्यमापूरयतीव शब्दः ॥ कि० सर्ग ३०, श्लो० ५०

१७, नानृग्वेदविनीतस्य नायजुर्वेदधारिणः ।
नासामवेदविदुषः शक्यमेवं विभाषितुम् ॥
नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनेन बहुधा श्रुतम् ।
बहु व्याहरताऽनेन न किञ्चिदपशब्दितम् ।
न मुखे नेत्रयोश्चापि ललाटे च भ्रुवोस्तथा ।
अन्येष्वपि च सर्वेषु दोषः संविदितः क्वचित् ॥

लंकेश रावण क्रुद्ध अवस्था मे संगीत को नहीं भूलते। उनका कहना है —

'वह राम मेरी धनुष-रूपी वीणा को नहीं जानता, जिसे मैं बाण-रूपी कोणों से बजाता हूँ। मैं संग्राम मे शत्रुओं को बहाकर ले जानेवाली उस सेना-रूपी नदी में घुस कर महारग का वादन करूँगा, जो प्रत्यचा के घोर शब्द से गूजनी होगी, घायलों के आर्तनाद का स्वर जिसमें होगा और नाराचतल का नाद होगा'।

प्राकृतिक दृश्य में अथवा अन्य परिस्थितियों पर संगीत सभा का आरोप बैजू, तानसेन, हरिदास, डागुर इत्यादि ने भी किया, इस प्रवृत्ति का परिचय वाल्मीकि के युग से मिलता है।

'कुशीलवौ' शब्दका प्रयोग वाल्मीकि ने कुश और लव को जोड़ी के लिए किया है, परन्तु इस शब्द का अर्थ कालान्तर में 'चारण' हो गया।१८ सम्भव है गाने बजाने का कार्य करनेवालों ने समाज मे प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए स्वय को कुश और लव की परम्परा से सम्बद्ध घोषित किया हो, परन्तु परिणाम उल्टा हुआ। 'कुशीलव' शब्द का अर्थ अमरकोष के टीकाकर महेश्वर ने कुत्सितशील से युक्त किया है और इस शब्द को कथक शब्द का पर्याय बताया है।१९ 'कथक' शब्द की चर्चा संगीत रत्नाकर में है।२० मनुस्मृति के तीसरे अध्याय में कुशीलव की गणना वर्जनीय व्यक्तियों में है।२१ वाल्मीकि रामायण मे कुशीलव शब्द का चारण के अर्थ मे प्रयोग नहीं होता था।

वाल्मीकि ने उपयुक्त अवसरों पर गान, वादन, नर्तन और नाट्य से सम्बद्ध परिभाषाओं की चर्चा की है। गीत के चार अग स्वर, पद, ताल और मार्ग होते हैं। स्वर से तात्पर्य गान का रागपक्ष है। वाल्मीकि ने स्वरपक्ष से सम्बद्ध जिन परिभाषाओं का प्रयोग किया है,

---

अविस्तरमसन्दिग्धमविलम्बितमव्यथम्।
उरःस्थं कण्ठगं वाक्यं वर्तते मध्यमस्वरम्॥
संस्कारक्रमसम्पन्नामद्भुतामविलम्बिताम्।
उच्चारयति कल्याणीं वाचं हृदयहर्षिणीम्।
अनया चित्रया वाचा त्रिस्थानव्यञ्जनस्थया।
कस्य नाराध्यते चित्तमुद्यतासेररेरपि॥ कि॰ सर्ग ३, २८-३३

१८ चारणास्तु कुशीलवा। अमरकोष द्वि॰ काण्ड, वर्ग १० श्लो॰ १२।

१९ "चारण कुशीलव। द्वे कथकाना विशेषणे। कुत्सितशीलमस्त्यस्य इति कुशीलव"। पूर्वोक्त शब्द पर महेश्वर की टीका।

२० कथका बन्दिनश्चात्र विद्यावन्त प्रियंवदा। स॰ रत्ना॰ नृत्याध्याय, श्लो॰ १३४८।

२१ कुशीलवोऽवकीर्णी च। मनुस्मृति, अध्याय ३, श्लोक, पृ॰ ५५।

वे हैं स्थान, स्वर, श्रुति, मूर्च्छना, स्थान-मूर्च्छना, जाति और करण। देखा जाय तो इसमें सारी स्वरविधि ही आ गई है। मानव कंठ मन्द्र, मध्य और नार इन तीन स्थानों में सीमित है, जिनके उद्गमस्थल क्रमशः हृदय, कंठ और शिर हैं। इन तीनों स्थानों से व्यक्त होनेवाली रंजक ध्वनियां स्वर हैं। इन स्वरों के आरोहावरोहयुक्त विभिन्न स्वरसप्तक मूर्च्छनाएँ हैं। स्वरों के विशिष्ट क्रम से युक्त सन्निवेश विशेष सात हैं, यही षाडजी, आर्षभी, गान्धारी, मध्यमा, पञ्चमी, धैवती और नैषादी नामक जातियां हैं, जो ग्राम रागों की जननी हैं। विभिन्न रसों में इन जातियों का विनियोग है, इसलिए महर्षि वाल्मीकि ने इन सातों जातियों का रसानुसारी विनियोग अपने काव्य में उपयुक्त स्थलों पर किया था।

पूर्वोक्त तीनों स्थानों की वीणा-तन्त्रियों में विभिन्न मूर्च्छनाओं को मिलाना स्थान मूर्च्छन कहलाता है और करण आलाप का एक विशेष प्रकार कहलाता है।

रामायण के श्लोकों का गान सात नाम-स्वर जातियों में बताया गया है, संसर्गज जातियों अथवा ग्रामरागों में नहीं, परन्तु नाट्य-शास्त्र में सात ग्राम-रागों का विनियोग नाटक में विभिन्न अवसरों पर बताया गया है और वाल्मीकि ने भी नाट्य संघों, समाजों और नाटकों की चर्चा की है, इससे सिद्ध है कि वाल्मीकि के युग में जातियों से उत्पन्न विभिन्न रागों का प्रचलन भलीभांति था।

रावण के अन्तपुर में वीणा और विपञ्ची जैसे वाद्यों की चर्चा का साथ-साथ होना इस तथ्य का परिचायक है कि उस युग में भारतीय वृन्दगान की परम्परा विकसित थी और पटह, मृदंग, डिंडिम, पणव, मुरज, मुडक, आडम्बर और चेलिका जैसे अवनद्ध वाद्यों के द्वारा किया जाता था, क्योंकि स्वाति ने छोटे-बड़े और मझोले आकार के नील कमलों की पंखुड़ियों पर वर्षा की बूदों और जल-धाराओं के आधार से उत्पन्न ध्वनियों का अनुकरण करने के लिए ही विश्वकर्मा की सहायता से विविध वाद्यों का निर्माण किया था।

सुषिर वाद्यों में वेणु और शंख इत्यादि की चर्चा भी वाल्मीकि ने की है। तालविधि की परिभाषाओं में मात्रा, ताल, कला, लय, प्रमाण, मार्ग, शम्या और गीति और अक्षरसम की चर्चा रामायण में आई है।

पांच लघु अक्षरों के उच्चारण काल को एक मात्रा कहते हैं। कई मात्राओं का समूह ताल कहलाता है, गीत की योजना इसके अनुसार होती है और यह गीत का आधार होती है। दो लघुओं का समुच्चय गुरु या कला कहलाता है, कला का अर्थ ताल-भाग है और ताल-बोधक शब्द एवं निःशब्द हस्तक्रियाएँ भी कला कहलाती हैं। ताल का मध्यवर्ती काल लय है। लय के तीन प्रमाण द्रुत, मध्य और विलम्बित हैं, इन प्रमाणों के अनुसार ही दक्षिण, वार्तिक और

चित्र नामक तीन मार्ग होते हैं। दाहिने हाथ से बायें हाथ पर ताल देना शम्या कहलाता है। सार्थक शब्दों अथवा शब्दखण्डों के प्रयोग की लयसम्बन्धी विविधताओं से पदाश्रित गीतियों का जन्म होता है, ये हैं मागधी, अर्धमागधी, सम्भाविता और पृथुला। गेय वृत्त में लघु गुरु की योजना के अनुसार ही लघु गुरु की योजना अवनद्ध वाद्य में करना अक्षरसम कहलाता है।

विभिन्न अङ्गों से अभिनय करने की छोटी से छोटी क्रिया करण कहलाती है। कई करणों की योजना एक अङ्गहार की सृष्टि करती है। वाल्मीकि ने करणों और अङ्गहारों का यथास्थान उल्लेख किया है और नृत्य और नाट्य का भी।

ये अन्तःसाक्ष्य यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं कि वाल्मीकि एक प्रामाणिक वाग्गेयकार थे और उनकी परम्परा भरतोक्त थी।

वाल्मीकि ने नारद-तुम्बुरु, गोप, हाहा और हूहू इत्यादि गन्धर्वों एव अलम्बुसा, मिश्रकेशी, और वामना इत्यादि अप्सराओं की चर्चा की है।

साहित्यिक कथानक अभिप्राय अथवा कथानक रूढ़ियाँ

कैलाशचन्द्र शर्मा

अभिप्राय और रूढ़ि

अनेक परम्परागत कृत्य अथवा नियम निरन्तर जन-विश्वास का संबल पाते रहने के कारण चलन या रूढ़ि मान लिए जाते हैं। इनके वास्तविक अर्थ या मूल तात्पर्य का पता किसी को नहीं होता, फिर भी विशेष अवसरों पर लोग इनका पालन करते ही हैं। इनमें से बहुतों का पालन न करने से जहाँ केवल सामाजिक अप्रतिष्ठा की अशंका रहती है वहाँ कुछ ऐसे भी चलन होते हैं जिन्हें पूरा न करने पर दैवी विपत्तियों अथवा विभिन्न प्रकार की हानियों का भय रहता है। कुछ रूढ़ियाँ इस प्रकार की भी होती हैं। जिन्हें छोड़ देने पर न तो प्रतिष्ठा को किसी प्रकार का धक्का लगता है और न ही जिनके पालन न करने से किसी दैवी विपत्ति की आशंका रहती है। तो भी, अवसर उपस्थित होने पर लोग उनका पालन यंत्रवत पीढ़ी-दर-पीढ़ी करते चलते हैं। जन्म, मृत्यु, विवाह, पुत्रोत्पत्ति तथा अन्यान्य पुण्य अवसरों एवं विधि-संस्कारों के समय किए जानेवाले विभिन्न कृत्यों को इनके अन्तर्गत गिना जा सकता है। उत्तर प्रदेश के सहारनपुर जिले में किसी सपौत्र वृद्धा या वृद्ध की मृत्यु पर जाति-भोज का आयोजन न करने से सम्बन्धित व्यक्ति समाज में आलोचना का पात्र बन जाता है। विधुर का विवाह कन्या से पहले किसी वृक्ष—साधारणतः अर्कवृक्ष के साथ कर दिया जाता है, जिससे यदि उक्त व्यक्ति की दूसरी पत्नी के मरने का भी विधि-विधान हो तो उसके स्थान पर अर्कवृक्ष ही नष्ट हो, नई बहू नहीं। विवाह के अवसर पर वरयात्रा के समय वर की माता कुएँ में पैर लटका कर बैठ जाती है और वहाँ से वह तभी हिलती है जब उसका पुत्र उसके दूध का मूल्य चुका देता है। कदाचित् इस चलन के पीछे युद्ध जीतने के बाद ही कन्या को प्राप्त कर सकने की मध्यकालीन उस सामन्ती प्रथा का अवशेष काम कर रहा होता है, जिसके अनुसार माता विवाह के पहले पुत्र से वचन ले लेती थी कि वह वधु को साथ लेकर ही लौटेगा ; खाली हाथ नहीं। इन सभी रूढ़ियों या चलनों को सामाजिक परम्परा (सोशल कन्वेंशन) की संज्ञा दी जा सकती है। इस सामाजिक परम्परा की तरह संगीत, कला तथा साहित्य अथवा काव्य आदि के क्षेत्रों में भी समय-समय पर कुछ साभिप्राय प्रयोग किए जाते हैं। ये प्रयोग धीरे-धीरे चलन का रूप धारण करके रूढ़िगत हो जाते हैं तो भी उनका अभिप्राय पक्ष मुखर रहता है और इन्हें रूढ़ि से कुछ विशिष्ट परम्परागत अभिप्रायों (मोटिफ्स) के रूप में ही स्वीकार किया जाता है।

अभिप्राय (मोटिफ) की परिभाषा देते हुए शिप्ले ने बताया है कि "एक शब्द या निश्चित साँचे मे ढले हुए विचार, जो समान स्थिति का बोध कराने या समान भाव को जगाने के लिए किसी एक कृति अथवा एक ही जाति की विभिन्न कृतियों में बार बार प्रयुक्त हों, अभिप्राय कहलाते हैं।१ अभिप्राय की यह सामान्य परिभाषा है, क्योंकि विभिन्न कला-रूपों में इसका विभिन्न अर्थों में प्रयोग होता है। साथ ही प्रत्येक कला के अपने अलग अलग अभिप्राय होते हैं, जिन पर प्रस्तुत सदर्भ में विचार कर लेना समीचीन रहेगा।

कला सबधी अभिप्राय

"चित्रकला अथवा स्थापत्य कला में अभिप्राय उस विशिष्ट आकृति को कहते हैं जिसकी कलाकृतियों में बार-बार आवृत्ति हो अथवा जिसका कृति में प्रमुखतम स्थान हो" ।२ रायकृष्ण दास ने अपनी पुस्तक 'भारत की चित्रकला' में लिखा है कि "कोई चल वा अचल, सजीव वा निर्जीव, प्राकृतिक अथवा काल्पनिक वस्तु, जिसकी अलकृत एवं अतिरजित आकृति मुख्यत' सजावट के लिए किसी कलाकृति में बनाई जाय' कला सबधी अभिप्राय कहलाता है। युवती के हाथ में कमल का फूल दिखाना एक प्रसिद्ध एव प्रचलित अभिप्राय है।

सगीत सबधी अभिप्राय

किसी एक गीत अथवा बहुत से गीतो में बार बार दुहराए जानेवाले शब्दसमूहों को सगीत सबधी अभिप्राय माना जाता है। इन्हें 'टेक' या 'स्थायी' भी कहते हैं। उदाहरण के लिए भारतीय लोकगीतों में 'झूलारे झूलत नागनऽसगई' यह एक स्त्री गीत का अभिप्राय है, जिसे युवतियाँ झूले की रस्सियों को हवा में उछालते समय मधुर लय में गाते हुए हर 'अन्तरे' के बाद दुहराया करती हैं। इसी प्रकार कई लोक गीतों में बार-बार आनेवाला 'सोने का गडुआ और गगाजल पानी' एक अभिप्राय ही है।

---

१ डिक्शनरी अफ वर्ल्ड लिटरेचर—शिप्ले।

२ ए डिक्शनरी अफ आर्टस् टर्मस्–आर० जी० हसार, पृ० २१८।

साहित्य अथवा काव्य-संबंधी अभिप्राय

सामाजिक परम्परा की भाँति साहित्य या काव्य के क्षेत्र में भी अनुकरण तथा अत्यधिक प्रयोग के कारण प्रत्येक देश या वर्ग के साहित्य में कुछ साहित्य-संबंधी रूढ़ियाँ बन जाती हैं और उनका यांत्रिक ढंग से प्रयोग होने लगता है। इन रूढ़ियों को साहित्यिक अभिप्राय (लिटरेरी मोटिफ्स) कहते हैं। वामन ने सबसे पहले 'काव्य समय' शब्द का प्रयोग व्याकरण, छंद एवं लिंग के संबंध में प्रतिष्ठित परिपाटी का बोध कराने के लिए किया था।३ किन्तु यह शब्द बहुत प्रचलित न हुआ। राजशेखर ने 'काव्य समय के स्थान पर 'कवि समय' शब्द का प्रयोग करते हुए इसकी परिभाषा इस प्रकार प्रस्तुत की है "अ-शास्त्रीय (शास्त्र से बहिर्भूत), अलौकिक (लोक व्यवहार से बहिर्भूत), केवल परम्परा-प्रचलित, जिस अर्थ का कविजन उल्लेख करते हैं—वह कवि समय है"।४ इस विषय में आगे चलकर उन्होंने यह भी लिखा है कि "प्राचीन विद्वानों ने सहस्रों शाखावाले वेदों का अंगों सहित अध्ययन करके, शास्त्रों का तत्त्वज्ञान करके, देशान्तर और द्वीपान्तरों का भ्रमण करके, जिन वस्तुओं को देख-सुन और समझ कर उल्लिखित किया है, उन वस्तुओं और पदार्थों का देशकाल और कारण भेद होने पर या विपरीत हो जाने पर भी उसी प्राक्तन—अविकृत रूप में वर्णन करना 'कवि समय' है"।५ डा० हज़ारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार 'कवि समय' शब्द का अर्थ है कवियों का आचार या सम्प्रदाय"।६ निष्कर्षतः; कवि समुदाय में प्रचलित वे मान्यताएँ जो चिरकाल से प्रयोजन-विशेष के लिए प्रयुक्त होती आई हैं 'कवि समय' कहलाती हैं। प्रमदाओं की विभिन्न क्रियाओं से अशोक, मन्दार, बकुल, आम (सहकार), कुरबक आदि का फूलना, नदियों में कमल का खिलना, चकोर का आग खाना, चातक का मात्र स्वाति-जल पीना आदि कवि-समयों को लिया जा सकता है। इन्हें कवि प्रसिद्धि भी कहा जाता है और ये अधिकांशतः कवि-कल्पनाश्रित तथा एक सीमा तक संभावनाश्रित वास्तविकता पर आधारित होते हैं। यहाँ इस तथ्य का उल्लेख कर देना भी आवश्यक है कि कला में किसी काल्पनिक या वास्तविक वस्तु

३. काव्यालंकार सूत्र; ५ : १।

४. "अशास्त्रीयमलौकिकं च परम्परायातं यमर्थमुपनिबन्धन्ति कवयः स कविसमयः"—काव्य मीमांसा; अनु० केदारनाथ शर्मा (१९५४ ई०); पृ० १९०।

५. वही, पृ० १९१।

६. हिन्दी साहित्य की भूमिका—डा० हज़ारी प्रसाद द्विवेदी (सप्तम संस्करण, १९६३ ई०), पृ० १८०।

की अलङ्कृतिमान के लिए अभिप्राय के रूप में प्रयोग किया जाता है जबकि काव्य में अभिप्राय मुख्य रूप से उस परम्परागत विचार (आइडिया) को कहते हैं जो अलौकिक और अशास्त्रीय होते हुए भी उपयोगिता और अनुकरण के कारण कवियों द्वारा ग्रहीत होता है तथा बाद में चलकर रूढ़ि बन जाता है।

विद्वानों ने वर्णनात्मक अभिप्रायों या रूढ़ियों (डिस्क्रिप्टिव मोटिफ्स) का भी विस्तार से उल्लेख किया है। ये कवि समय से कुछ भिन्न होती हैं। काव्य परम्परा में स्वीकृत धारणा के अनुसार नेत्रों के लिए चकोर, मीन, खजन, मृग और कमल, मुख के लिए चन्द्रमा, कमल आदि की उपमाएँ देना वर्णनात्मक रूढ़ियाँ हैं। ये प्राय लाक्षणिक या सादृश्य भावना पर आधारित होती हैं, जिन्हें अलकारों के अन्दर गिना जा सकता है। बारहमासा, नखशिख, नगर, उपवन, सरोवर आदि का वर्णन भी काव्य परम्परा में स्वीकृत इसी प्रकार की रूढ़ियाँ हैं। प्रयोग की दृष्टि से काव्य अभिप्राय या कवि समय अथवा कवि प्रसिद्धि और वर्णनात्मक रूढ़ियाँ सभी रूढ़ हैं। अत इन सबको काव्य रूढ़ि की सज्ञा दी जा सकती है लेकिन ऐसी स्थिति में रूढ़ि का अर्थ रूढ़ प्रयोग और नियमबद्धता तक ही सीमित रहेगा, अग्रेजी के 'मोटिफ' का अर्थ उससे नहीं निकलेगा। अत इन्हें काव्य-परम्परा (पोयटिक कनवेंशन) कहना अधिक उपयुक्त है।

कथा-सबधी अभिप्राय अथवा कथानक-रूढ़ि

कथानक रूढ़ि की आत्मा और स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का यह सारगर्भित कथन—सम्भावनाओं पर बल देने का परिणाम यह हुआ है कि हमारे देश के साहित्य में कथानक को गति और घुमाव देने के लिए कुछ ऐसे अभिप्राय बहुत दीर्घकाल से व्यवहृत होते आए हैं जो बहुत दूर तक यथार्थ होते हैं और जो आगे चलकर कथानक-रूढ़ि में बदल गए हैं" ।७ —बहुत महत्त्वपूर्ण है। अत इस कथन की व्याख्या अपेक्षित है।

द्विवेदी जी की उपर्युक्त पक्तियों में तीन सूत्र मिलते हैं। प्रथम यह कि 'सम्भावनाओं पर बल देने के कारण कुछ कथाभिप्रायों का जन्म होता है'। लेकिन सूत्र का सम्बन्ध अभिप्रायों के मूल उत्स से है जो अपने में स्वतन्त्र एव विस्तृत विषय है। अत प्रस्तुत सदर्भ में उस पर विचार करना असमीचीन रहेगा।

---

७ हिन्दी साहित्य का आदिकाल—पृ० ८० (बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना १९५७ ई०)।

द्वितीय सूत्र के अनुसार 'कथानक को गति और घुमाव देने के लिए इन अभिप्रायों का प्रयोग होता है'। और कथानक—'कथानक में समय की गति घटनावली को खोलती चलती है और इसके साथ ही उसका घटना संयोजन विश्व के युक्तियुक्त संघटन के अनुरूप—तर्क सम्मत कार्य कारण अंतःसम्बन्धों पर आधारित रहता है'।८ कथान्तर्गत इस घटनावली को खोलने का अर्थ 'कथा को गति देना' ही है और इसमें कथानक अभिप्रायों का प्रमुख हाथ रहता है। उदाहरण के लिए 'उपश्रुति' नामक अभिप्राय को लिया जा सकता है। प्रिया की खोज में निकला हुआ नायक जब जंगल में भटक जाता है तो कथा को आगे बढ़ाने का मार्ग भी अवरुद्ध हो जाता है। ऐसे अवसर पर 'उपश्रुति' नामक या किसी अन्य ऐसी ही कथानक-रूढ़ि का प्रयोग करके कथा को गति दी जाती है। किसी वृक्ष के नीचे अथवा कोटर में लेटा हुआ निराश प्रेमी वृक्ष के ऊपर बैठे पक्षी-युगल की बातचीत अथवा पक्षी समूह को किसी एक पक्षी द्वारा किसी कथा के सुनाए जाने के बीच कोई ऐसी सूचना पा जाता है कि उसे अपनी प्रिया से मिलने का तरीका मालूम हो जाता है या यह विश्वास हो जाता है कि वह अपनी प्रिया को अवश्य ही प्राप्त कर सकेगा। कभी-कभी तो वक्ता पक्षी अगली सुबह स्वयं उसी जगह जानेवाला होता है, जहाँ नायक को पहुँचना रहता है और फिर नायक बड़े ही कौशल से पक्षी की पूँछ में छिपकर अभीष्ट स्थल पर पहुँच जाता है।

कथानक को घुमाव या नया मोड़ देने के लिए भी कथाभिप्रायों का डट कर उपयोग किया जाता है। प्रस्तुत संदर्भ में 'स्त्री की दोहद कामना' को लिया जा सकता है। 'दोहद' शब्द का निर्माण 'द्विहृद' से हुआ है। आपन्नसत्वा नारी की दोहद-कामना स्त्री के जीवन की अति सामान्य एवं परिचित घटना है। इस स्थिति में औरत कभी खट्टा-मीठा खाने की इच्छा व्यक्त करती है तो कभी उसका मन चूल्हे की जली हुई मिट्टी को खाने के लिए ललक उठता है। पति गर्भवती स्त्री की प्रत्येक इच्छा को पूरा करने के लिए तत्पर रहता है और उसकी दोहद-कामना को पूर्ण करना अपना परम कर्त्तव्य समझता है। कथाकारों ने इस दोहद-कामना को अभिप्राय के रूप में ग्रहण करके विभिन्न अवसरों पर विविध प्रकार से इसके चामत्कारिक और अद्भुत प्रयोग किए हैं और जैन कथाकारों ने तो इसे अपना सर्वाधिक प्रिय 'अभिप्राय' बना लिया था। हर अर्हत् अथवा चक्रवर्तिन् की उत्पत्ति के पूर्व उसकी माता किसी पवित्र और श्रेष्ठ कार्य करने की दोहद-कामना करती है। यद्यपि बहुत बार यह 'अभिप्राय' घिसे-पिटे रूप में ही प्रयुक्त होता है तो भी कई बार इसका प्रयोग कथा के लिए पर्याप्त हितकारी बन जाता

है और उसमे रस-प्रवणता के साथ-साथ घटना-प्रवाह में लोच भी आ जाती है। समरादित्य-सक्षेप और इसके आधार पर प्राकृत भाषा मे रचित समराइच्चकहा में प्रमुख सम्भ्रान्त व्यक्तियों के पुनर्जन्मों के अवसरों पर लगभग सभी गर्भिणी स्त्रियाँ दोहद व्यक्त करती हैं। अन्य अनेक कथाओं में भी कथा को गति देने और नया मोड़ देने के लिए नायिकाएँ चन्द्रपान करने की, पति के रक्त मे स्नान करने की अथवा किसी रक्त वापी में नहाने की इच्छा व्यक्त करते देखी जाती हैं। नायक कृत्रिम रक्त-वापी बनवा कर प्रिया को उसमें स्नान करवाता है। वापी से बाहर निकलने पर ऊपर से नीचे तक रक्त-स्नात स्त्री को आकाश में मडराता कोई भरुण्ड, गरुड अथवा गिद्ध मांसपिंड समझ कर चोंच में दबाकर उड़ा ले जाता है। तत्पश्चात् नायक को उसे पाने के लिए अनेक प्रयत्न करने पड़ते हैं। कहीं राक्षसों से मुठभेड़ होती है तो कहीं किसी मन्त्रविद् से निपटना पड़ता है और अन्त में, वह पत्नी को पा लेता है। इस प्रकार कथानक एक नई दिशा प्राप्त करके ही सामने नहीं आता, उसमें अनेक रोमांचक एव अद्भुत घटनाओं का सन्निवेश भी हो जाता है। केवल यही नहीं, कथा को आरम्भ करने एव उसको चामत्कारिक ढग से समाप्त करने मे भी इन कथानक-अभिप्रायों से पर्याप्त सहायता ली जाती है। कोई हस अथवा शुक नायक के हाथ लग जाता है और किसी सुन्दरी का रूप गुण वर्णन करके उसे प्रेमातुर बना देता है। प्रेमिका को पाने के लिए नायक योगीवेश में चल पड़ता है। इस प्रकार कथा का सुप्रारम्भ होता है जो उत्तरोत्तर कौतूहल एव जिज्ञासापूर्ण बनता-चलता है। कथा का चामत्कारिक अन्त करने के लिए बहुत बार नायक की अनुपस्थिति में किसी मनचले अथवा विषयी राजा या राजकुमार की ओर से कोई कुट्टनी नायिका के पास भेज दी जाती है। किन्तु नायिका सत् से नहीं डिगती। नायक के लौट आने पर वह उक्त घटना उसे सुनाती है जिससे आग-बबूला होकर नायक प्रतिद्वन्द्वी से युद्ध ठान देता है और समरांगण में शत्रु को मारने में इतना घायल हो जाता है कि उसके स्वय के प्राण भी नहीं बचते और नायिका सती हो जाती है। 'परकाय-प्रवेश' आदि कुछ अभिप्रायों में सम्पूर्ण कथा का सघटन करने की क्षमता भी रहती है।

द्विवेदी जी के उपर्युक्त कथन से तीसरा सूत्र यह प्राप्त होता है कि 'दीर्घकाल से व्यवहृत होते आनेवाले ये अभिप्राय बहुत थोड़ी दूर तक यथार्थ होते हैं और आगे चलकर कथानक-रूढ़ियों में बदल जाते हैं'। प्रस्तुत पक्तियों को सरसरी तौर पर देखने से ऐसा आभास होता है कि कथानक-अभिप्राय और कथानक-रूढ़ि भिन्नार्थक हैं। किन्तु जरा गहरा पैठने पर यह भ्रम छिन्न-भिन्न हो जाता है, क्योंकि आरम्भ में किसी भी अभिप्राय का प्रयोग किसी विशेष उद्देश्य को लेकर किया जाता है और ऐसा करते समय उक्त अभिप्राय के मूल में वास्तविकता

की कोई न कोई मात्रा अवश्य रहती है। पश्चात् कल्पना के संयोजन से उक्त अभिप्राय को उत्तरोत्तर ऐसा रूप मिलता चला जाता है कि उसमें विश्वसनीय तत्त्व की मात्रा पर्याप्त विरल हो जाती है। परन्तु उसका सम्भावना पक्ष अभी भी पर्याप्त मुखर रहता है और रचयिता-वर्ग सत्यासत्य अन्वेषण से निरपेक्ष रहकर अपनी अनुकरण प्रवृत्ति के कारण उपयुक्त अवसरों पर अभीष्ट प्रयोजनार्थ उसका प्रयोग करता ही रहता है। इसी स्तर पर कथानक-अभिप्राय कथानक रूढ़ि में बदल जाता है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि कथानक-रूढ़ि मात्र रूढ़ि होकर रह जाती है। कथानक-अभिप्राय के समान ही कथानक-रूढ़ि का भी अभिप्राय पक्ष पूर्णरूपेण सक्रिय रहता है ; कथा या आख्यान को आगे बढ़ाने, उसे कोई नवीन मोड़ देने या चामत्कारिक ढंग से समाप्त करने की उसकी क्षमता में कोई अन्तर नहीं पड़ता। इस दृष्टि से ये दोनों एक दूसरे के पर्याय रहते हैं। 'कथानक-अभिप्राय' को 'कथानक-रूढ़ि' नाम देने में तात्पर्य केवल इतना रहता है कि इससे यह भी स्पष्ट हो जाए कि इसका प्रयोग चलन या परम्परा के आधार पर भी किया गया रहता है। उदाहरण के लिए ; हंस, कपोत, शुक आदि के पैरों में या ग्रीवा में पत्र बांधकर प्रिय अथवा प्रिया के पास संदेश भेजने के अनेक प्रमाण मिलते हैं। अतः आरम्भ में कथाकारों ने यथावत् इसे अभिप्राय के रूप में प्रयोग किया होगा। पश्चात् शुकादि द्वारा थोड़ा-बहुत मानव-वाणी का अनुकरण कर लेने की क्षमता के आधार पर, सम्भावना का सहारा लेकर बहुत से पक्षियों को मानव-वाणी में मौखिक संदेश-वाहक के रूप में दिखाया जाने लगा। इतना ही नहीं, आगे चलकर उन्हें शास्त्रज्ञ मुखर पंडित और परामर्शदाता के रूप में प्रयुक्त कर लेने में भी हिचकिचाहट न रही। जायसी कृत 'पद्मावत' का हीरामनि शुक प्रमाण है। निष्कर्षतः आरम्भ में यथार्थ रहने पर भी 'संदेश-वाहक पक्षी' नामक अभिप्राय दीर्घ-काल तक व्यवहृत होते रहने के बाद न केवल यथार्थ से दूर ही चला गया अपितु उसका प्रयोग भी हर प्रेमी-प्रेमिका के बीच संदेश-वाहक, प्रेम-संघटक, मार्गनिर्देशक आदि के रूप में बार-बार किया जाने लगा। यही बात अन्य सभी अभिप्रायों के लिए भी सत्य है। प्रयोग संबंधी इस रूढ़ि का पालन करने के कारण ही 'कथानक-अभिप्राय' को 'कथानक-रूढ़ि' कह लेने में कोई अनौचित्य नहीं रह जाता।

कथानक-रूढ़ि जहाँ कथानक की गति या घुमाव देने अथवा चामत्कारिक ढंग से समाप्त करने आदि में असमर्थ रहती है वहाँ उसे कथा-रूढ़ि या मात्र, रूढ़ि कहा जाएगा ; कथानक-रूढ़ि नहीं। उदाहरणस्वरूप, नूर मौहम्मद कृत 'इन्द्रावती' के पूर्वार्द्ध में इन्द्रावती से विवाह करने के लिए समुद्र से मोती निकाल लाने का अनुबन्ध 'कथानक-रूढ़ि' है ; क्योंकि इसी को पूरा करने जाने के कारण राजकुँवर को दुर्जनराय का बन्दी बनना पड़ता है और बुद्धसेन तथा

इन्द्रावती दोनों को प्रयत्न करके छ्मा नायक राजा के द्वारा दुर्जनराय का नाश करवाकर राजकुँवर को कैद से छुड़वाना होता है। कथा का विस्तार भी हुआ और उसे एक नया मोड भी मिला। लेकिन रस रतन मे ऐसी कोई शर्त न रहने से स्यम्बर में रम्भा सूरसेन को सीधे ही वरण कर लेती है। कथा को इससे न कोई गति मिलती है और न ही किसी प्रकार का घुमाव अथवा विस्तार। अत यहाँ स्यम्वर या विवाह एक कथा-रूढ़ि भर है जिसका आयोजन केवल कथा के कालानुक्रमिक वर्णन को व्यवस्थित रखने के लिए ही किया गया है।

कथानक-रूढि काव्य-रूढि या काव्य-अभिप्राय

कथानक-रूढ़ि या अभिप्राय का सवध विशुद्ध रूप से कथा के वस्तुशिल्प (प्लाट कान्स्ट्रक्शन) या ढाँचे (फार्म) से रहता है। लेकिन काव्य-अभिप्राय उससे बिल्कुल भिन्न कथा या काव्य के अभिव्यक्ति-पक्ष से सवधित होते हैं। सादृश्य के आधार पर निर्मित रूढ़ियों का सवध भी अभिव्यक्ति-पक्ष से ही है, परन्तु इनका कार्य सादृश्य के माध्यम से अर्थ-बोध या भाव-बोध कराना होता है। नगर, उपवन, आश्रम, नखशिख, ऋतुवर्णन, बारहमासा आदि वर्णनात्मक या नियम सम्बधी रूढ़ियाँ भी कथा या काव्य के बाह्याकार से सम्बन्ध रखती हैं। लेकिन ये कवि नियम मात्र हैं या इन्ह 'वर्णन-रूढ़ि' भी कह सकते है और इनसे उन सधे हुए सकेतों को प्रस्तुत नहीं किया जा सकता जो काव्य-अभिप्रायों के माध्यम से थोड़े में बहुत कुछ द्योतित करने की क्षमता रखते है।

उपर्युक्त कथन को स्पष्ट रूप से समझने के लिए अगूठी या मुद्रिका सवधी कथानक-अभिप्राय और काव्य अभिप्राय के वैषम्य को लिया जा सकता है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में मुद्रिका द्वारा प्रत्यभिज्ञान एक कथानक-रूढ़ि के रूप में सामने आता है। महाराजा दुष्यन्त मछुए द्वारा मुद्रिका प्राप्त करते ही शकुन्तला सबधी सभी वृत्त का स्मरण कर, पश्चातापग्रस्त होते है और प्रिया को पुन प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील हो जाते है। रीतिकालीन काव्य में मुद्रिका का प्रयोग अनेक स्थलों पर काव्य-अभिप्राय के रूप में भी हुआ है। उदाहरण के लिए रामसहाय का एक दोहा लिया जा सकता है —

> अरुन चुनीन जडित ललित छिगुनी छोर सभाग।
> रसन छला के छल लला यह ललना अनुराग॥[१]

---

१ रामसहाय सतसई, दो० ५८१—डा० ललन राय द्वारा अपने प्रबध 'रीतिकालीन हिन्दी साहित्य मे उल्लिखित वस्त्राभरणों का अध्ययन मे, पृ० ३७७ पर उद्धृत।

परकीया गमन में नायक ने प्रेमवश अपनी मुद्रिका नायिका को दे दी है तथा उसका छल्ला स्वयं पहन रखा है। छल्ला छोटा होने के कारण नायक की कनिष्ठका अंगुली के छोर पर टिका हुआ है। इससे खण्डिता नायिका सारे प्रसंग को जान लेती है। यहाँ सम्पूर्ण प्रकरण की अभिव्यक्ति मुद्रिका-संबंधी काव्य-अभिप्राय के माध्यम से हुई है। अन्त में; उपर्युक्त विवेचन के परिप्रेक्ष्य में कथानक-रूढ़ि या कथानक-अभिप्राय की परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है कि "वास्तविकता, कल्पना अथवा सम्भावना पर आधारित कोई एक छोटी घटना, निश्चित साँचे में ढला हुआ कार्य-व्यापार या विचार (आइडिया) जो समान स्थिति में कथानक को प्रारम्भ करने, गति देने, कोई नवीन मोड़ या घुमाव देने, उसे चामत्कारिक ढंग से समाप्त करने अथवा अपने में ही सम्पूर्ण कथा का संघटन कर लेने के लिए बार-बार प्रयुक्त होता है, कथानक-रूढ़ि' कहलाता है।
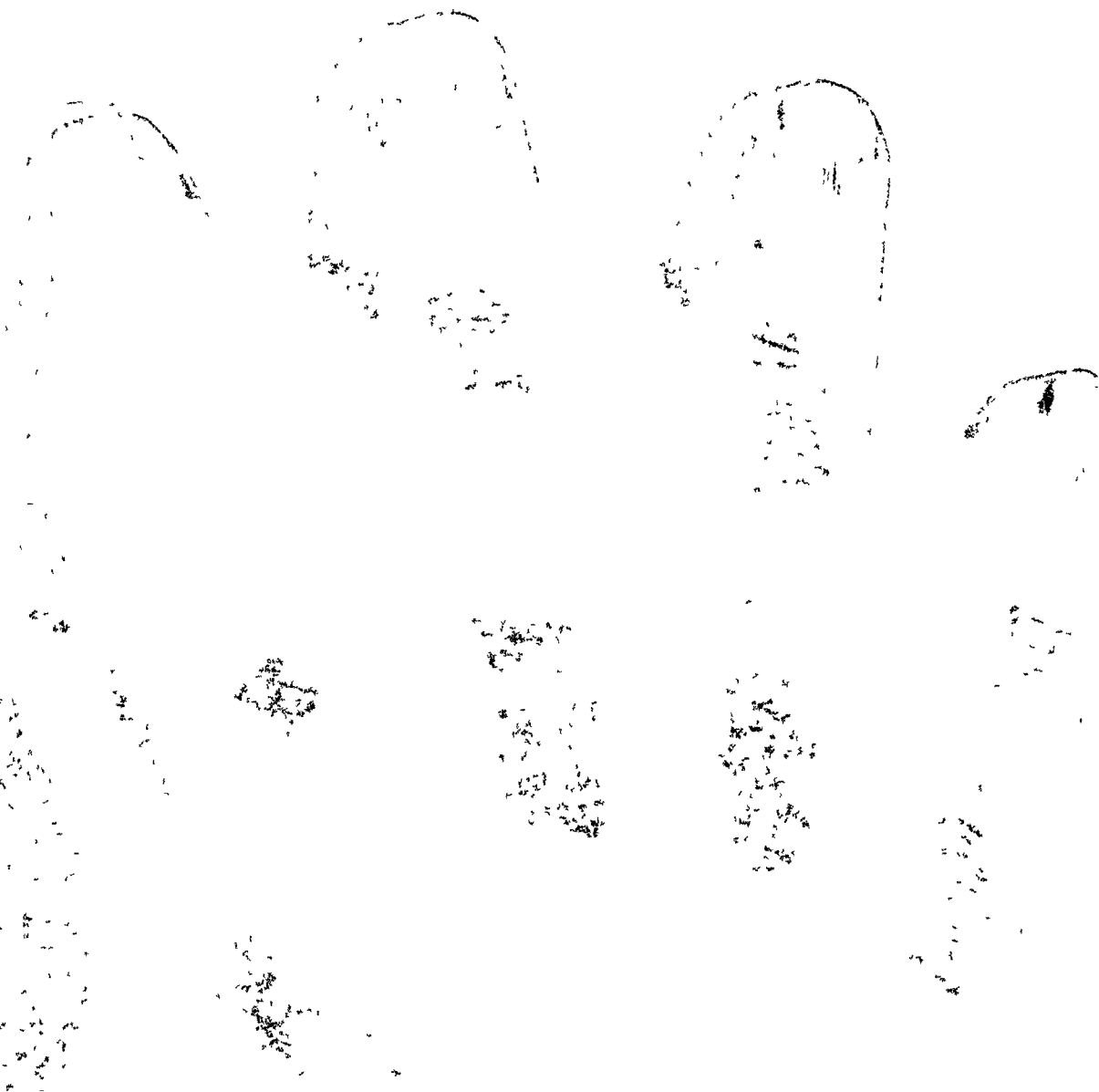
मानसकार के राम का सौन्दर्य-शक्ति एवं शील

सत्यनारायण शर्मा

रामचरित मानस के भगवान् राम अनन्त-सौन्दर्य सम्पन्न हैं। करोड़ों कामदेवों को लज्जित करनेवाले उनके असाधारण एवं अनन्त रूप सौन्दर्य का अवलोकन कर आबाल-वृद्ध वनिता सभी विस्मय-विमुग्ध हो जाते हैं। उनकी रूप-माधुरी का तुलसी पर इतना अधिक प्रभाव है कि अनेकानेक बार उसकी अभिव्यक्ति करते हुए भी उनको पुनरुक्ति का भान तक नहीं होता। सभी भक्त राम का दर्शन कर आत्मसुधि खो देते हैं और गद्गद हो जाते हैं।[1] राम के अनुपम सौन्दर्य का इतना अधिक आकर्षण है कि वैरागी जनक सहित जनक पुरवासी[2] वन-मार्ग के ग्रामीण नर नारी[3], कोल-भील[4], पशु पक्षी, सज्जन-दुर्जन, ऋषि मुनि, देवता सभी बरबस वशीभूत हो जाते हैं। विषैले एवं तामसी प्रकृति के सर्प-बिच्छू भी उन पर मुग्ध होकर उनका कोई अनिष्ट नहीं करते[5]। औरों की तो बात ही क्या उनका शत्रु खर-दूषण भी उनके सौन्दर्य पर मन मुग्ध हैं।[6] शूर्पणखा भी उनके सौन्दर्य पर विमुग्ध होकर ही उनसे अपना वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करना चाहती थी।[7] क्षत्रियकुल के विश्वविदित द्रोही परशुराम भी असंख्य कामदेवों का मानमर्दन करने-वाले उनके अपूर्व रूप का अवलोकन कर थकित रह गये।[8] जनकपुर के 'बालकवृन्द' तो उनका अद्भुत सौन्दर्य देखकर उनके पीछे ही लग जाते हैं।[9] जनकपुर की वाटिका में भगवान् राम ने अपने भाई लक्ष्मण सहित लताकुञ्ज से प्रकट होकर सीता की सखियों को जिस सौन्दर्य का साक्षात्कार कराया, वह ऐसा विलक्षण एवं अपूर्व था कि सखियाँ अपने आप को भूल गयीं।[10] इतना ही नहीं उनमें से एक चतुरा ने तो पार्वती की पूजा में ध्यानस्थ सीता के हाथों को झकझोर कर उन्हें उस सौन्दर्य को देखने के लिए विवश किया।[11] राम का रूप ऐसा अपूर्व है कि उसे स्वय तो लोग देखते ही हैं, दूसरों को भी देखकर नेत्रों का लाभ लेने की शिक्षा देते हैं।[12] विवाह के अवसर पर तो, राम के त्रिभुवन मोहन रूप के दर्शनार्थ शिव, विष्णु, ब्रह्मा, कार्त्तिकेय, इन्द्र

---

१ मा० ४ २ ६, ५ ४५ ३, ७ ३३ २-४
२ मा० १ २१६, ३, १ २२० १—१ २२०
३ मा० २ ११० २, २ ११४ ३।
४ मा० २ १३५ ४-६
५ मा० २ २२६ ८।
६ मा० ३ १९ ३-५।
७ मा० ३ १७ ८-१०।
८ मा० १ २६९-८।
९ मा० १ २१९ २।
१० मा० १ २३२—१ २३३।
११ मा० १ २३४ १-२।
१२ मा० २ ११४ ६।

आदि देवगण जनकपुर में जुट गये थे।१३ सीता स्वयंवर में उपस्थित सभी नागरिक निष्पलक नयनों से राम की रूप-माधुरी का पान कर रहे थे।१४ वन-मार्ग के पथिकगण एवं ग्रामीण उनके सौन्दर्य को देखकर आश्चर्यचकित रह जाते हैं। ग्रामीण वधुएँ उत्कण्ठित होकर सीता से "श्यामल-गौर-किसोर" राजकुमारों का परिचय प्राप्त करती हैं।१५ और उनके चले जाने पर भी उनकी सुकुमारता का स्मरण करती हुई खिन्न होकर विधि को उलाहना१६ देती हैं तथा यही चाहती हैं—

"जौं मागा पाइअ विधि पाहीं।
ए रखिहहिं सखि आँखिन्ह माहीं॥"१७

तुलसी ने भगवान् राम की अद्वितीय शक्ति का भी उद्‌घाटन किया है। उनकी शक्ति के लवलेश से तीनों लोकों के चराचर पर विजय प्राप्त की जा सकती है।१८ जिस समय भगवान् राम का अवतार हुआ था उस समय रावण, बालि और परशुराम ये तीन विश्वविश्रुत योद्धा विद्यमान थे। किष्किन्धा का सम्राट बालि राक्षसराज रावण से भी अधिक बली था। उसने उसे बुरी तरह परास्त ही नहीं किया था परन्तु एक किम्वदन्ती के अनुसार अपनी काँख में छह मास तक दबाये भी रखा था। क्षत्रियों के जन्मजात शत्रु महामुनि परशुराम ने तो कौतुक में ही रावण को बन्दी बनानेवाले महाबीर सहस्रबाहु को भी मारकर इक्कीस बार पृथ्वी को क्षत्रिय विहीन किया था। राम ने रावण और बालि का तो वध किया ही, उन्होंने सीता स्वयंवर में परशुराम का भी मान-मर्दन कर उन्हें तपस्या के लिये जंगल का रास्ता दिखाया। ये सारे कार्य राम की अतुलित शक्ति और अपूर्व वीरता की पराकाष्ठा के ही परिचायक हैं। उनके वाण खींचते ही समुद्र के हृदय में ज्वाला उठने लगी थी।१९ उन्होंने सरकंडे का ही वाण जयंत पर छोड़ा था।२० और मारीच को "बिनु फर सर"२१ ही मारा था जिनकी प्रतिक्रियाएँ अवर्णनीय हैं। उनके वाणों में ऐसी अद्‌भुत शक्ति है जो क्षणमात्र में ही भयङ्कर राक्षसों को काटकर रख देते हैं और वे सब पुनः लौटकर उनकी तरकस में घुस जाते हैं २२।

---

१३. मा० १, ३१७, २-८।
१४. मा० १, २४२—१, २४४,३।
१५. मा० २, ११६—२, ११७, १।
१६. मा० २, १२१, ३-४।
१७. मा० २, १२१, ५।
१८. मा० ५ २१।
१९. मा० ५, ५८, ६।
२०. मा० ३, १, ८।
२१. मा० ३, २५, ५।
२२. मा० ६, ६८।

राम की शक्ति के बल पर ही, रावण के सामने आँख उठाकर भी नहीं देखनेवाला विभीषण, काल के समान उससे युद्ध करने लगा था।२३ राम में अनत कोटि दुर्गाओं के समान शत्रुओं के सहार की शक्ति विद्यमान है।२४ राम ने अपनी अपूर्व शक्ति से ताड़का, खर-दूषण, कुम्भकर्ण, मारीच आदि अत्याचारियों का भी वध किया। रावण, मारीच आदि राक्षसों ने उनकी अतुलित शक्ति से ही उन्हें परब्रह्म के रूप में पहचाना था।२५ भला भगवान् राम से भी अधिक शक्तिसम्पन्न कौन हो सकता है, जिनके लव, निमेष, परमाणु, वर्ष, युग और कल्प प्रचण्ड बाण हैं और साक्षात काल जिनका धनुष है।२६

तुलसी ने भगवान् राम के शील का ऐसा मार्मिक अकन किया है कि भक्तों का हृदय स्वत उसकी ओर आकृष्ट हो जाता है। उनके मनोहर शील-स्वरूप को देखकर, उसका अनुगत कर मनुष्य अपनी वृत्तियों को भी उसी के मेल में ले चलने की लिए प्रयत्नशील हो जाता है। राम की सरलता एव सुशीलता के अनुभव से ही उसकी कुटिलता एव दुष्टता धीरे-धीरे दूर होने लगती है और इस तरह वह, भक्ति का अधिकारी बनता चलता है। अयोध्या में राम राज्याभिषेक का आयोजन हो रहा है। कुलगुरु वशिष्ट अभिषेक की सफलता के लिए राम को सयम करने का आदेश देने आये हैं। भगवान् राम उनके प्रति जिस असाधारण शिष्टाचार एव शील का निर्वाह करते हैं, उसे देखकर वे प्रेम से पुलकित हो जाते हैं।२७ जब वशिष्ट राम को अभिषेक-कार्य में सकुशल सम्पन्न होने के निमित उपवास, हवन आदि सयम करने का उपदेश देकर लौट जाते हैं तब राम सोचने लगते हैं कि हम चारों भाई एक ही साथ जन्मे खाना, सोना, लड़कपन, खेलकूद, कनछेदन, उपनयन सस्कार और विवाह आदि उत्सव सब साथ ही साथ हुए। पर इस निर्मल वंश में यही एक अनुचित बात है कि और सब भाइयों

---

२३ मा० ६ ९४। २४ मा० ७ ९१ ७ (उत्तरार्द्ध)

२५ मा० ३ २३ २, ३, ३५। २६ मा० ६ मङ्गलाचरण का दोहा।

२७ गुर आगमन सुनत रघुनाथा। द्वार आइ पद नायउ माथा॥
सादर अरघ देइ घर आने। सोरह भाँति पूजि सनमाने॥

बरनि राम गुन सीलु सुभाऊ बोले प्रेम पुलकि मुनिराऊ॥"
मा० २ ९ २—२, १० १

बौद्धधर्म में महामैत्री और क्षान्ति

सुजीत कुमार मुखोपाध्याय

महामैत्री और क्षान्ति (क्षमा) भारतीय संस्कृति का विशिष्ट पहलू है, जिसकी झाँकी भारतीय सभ्यता के प्रारम्भ से ही हमें मिलती है। मानव-जाति की उपलब्ध आदिपुस्तक ऋग्वेद में मैत्री का उल्लेख है[1], वह मैत्री जो किसी सम्प्रदाय या समुदाय या राष्ट्र में सीमित नहीं होती है।

यह ध्यान रखना चाहिये कि क्षान्ति का प्रारम्भ मैत्री से है। जहाँ सच्ची और स्वार्थ रहित मैत्री है वहाँ क्षान्ति भी है ; जहाँ मैत्री में क्षान्ति नहीं है वह मैत्री सीमित और स्वार्थपरायण है।

क्षान्ति सर्वदा महामैत्री के साथ चलती है। क्षान्ति महामैत्री का ही विशिष्ट गुण है। जो मैत्री धारा की तरह निरन्तर प्रवाहित होकर आसन्न दूरस्थ ऊँच नीच तथा शुद्ध अशुद्ध सभी को लाभान्वित करती है, वह महामैत्री है।

बौद्ध धर्मावलम्बी महामैत्री की व्याख्या इस प्रकार करते हैं:—"सभी जीवों के प्रति असीम कोमल भावना।" वे कहते हैं कि "जिस भावना से माँ अपने इकलौते पुत्र की प्राण के मूल्य से रक्षा करती है; उसे व्यक्ति अपने हृदय में विकसित करे"।

"जिस प्रकार कोई वणिक या गृहस्थ अपने गुणवान् इकलौते पुत्र को हृदय से प्यार करता है उसी प्रकार करुणामय बोधिसत्त्व हृदय से सभी जीवों के प्रति मैत्रीभाव रखते हैं"।

"सभी जीव मेरी सन्तान हैं और मैं सभी की सन्तान हूँ"।

"पुत्र के प्रति प्रेम के समान स्नेह"।

यह सर्वाश्लेष महामैत्री क्या है ? बौद्ध कहते हैं, जिसमें सर्वाश्लेष महामैत्री का उदय होता है, वह सभी जीवों के उपकार के लिये अपने शरीर, अपने जीवन एवं अपने कुशल मूल (अलोभ, अद्वेष अमोह से अर्जित पुण्य) का बिना फलासक्ति के उत्सर्ग कर देता है।[2]

मैत्री को किस प्रकार विकसित किया जाय ?

प्रथम, संसार में सबसे प्रिय व्यक्ति के प्रति मैत्रीभाव उत्पन्न करना चाहिये। उसकी सुख सुविधा एवं कुशलता को बढ़ाने की बात सोचनी चाहिये। इसी प्रकार क्रमशः प्रियतर

---

१. वे जन्म से शुद्ध हैं। वे सभी समान हैं। कोई ऊँच या नीच-नहीं है। सभी मनुष्य सभी दिशाओं से मेरी शरण में आवें। ऋग्वेद ५. ५९. ६.।

२. देखिये सुत्तनिपात, १-६. ७ ; शिक्षासमुच्चय, पृ० २६७, १९, १४७।

प्रयास करता है। जब जीव को प्रतिदिन किये जानेवाले अपने अपराधों की स्मृति होती है तब भक्ति के मार्ग में उसके पैर लड़खड़ाने लगते हैं। लेकिन जब उसे शीलनिधान भगवान् के उदार स्वभाव का स्मरण हो जाता है, तब उसके पैर तेजी से बढ़ने लगते हैं।३५

यथार्थत मानसकार के भगवान् राम ने अपने सौन्दर्य, शक्ति एव शील से जन जन के जीवन पर अपना अखड आधिपत्य स्थापित कर लिया है। कदाचित् इसीलिए आचार्य प० रामचन्द्र शुक्ल ने अपना यह विचार व्यक्त किया है—"भगवान् का जो प्रतीक तुलसीदास जी ने लोक के सम्मुख रखा है, भक्ति का जो प्रकृत आलबन उन्होंने खड़ा किया है, उसमें सौन्दर्य, शक्ति और शील, तीनों विभूतियों की पराकाष्ठा है। सगुणोपासना के ये तीन सोपान हैं जिन पर हृदय क्रमश टिकता हुआ उच्चता की ओर बढ़ता है।"३६ वस्तुत राम की सौन्दर्य शक्ति एव शील की झाँकी पाकर साधक स्वार्थमय सासारिक तुच्छ प्रलोभनों का सर्वथा परित्याग कर देता है। यही कारण है कि उनकी इस झाँकी का दर्शन कर जगली कोल-भील भी अनायास ही मन की उसी पवित्र भावभूमि पर पहुच जाते हैं जिस पर तपस्वियों को भी काफी कठोर साधना के पश्चात् ही पहुँचने का सौभाग्य उपलब्ध होता है।

---

३५. मा० २ २३४, ६।

३६. गोस्वामी तुलसीदास—पृष्ठ ५३-५४।

बौद्धधर्म में महामैत्री और क्षान्ति

सुजीत कुमार मुखोपाध्याय

महामैत्री और क्षान्ति (क्षमा) भारतीय संस्कृति का विशिष्ट पहलू है, जिसकी झाँकी भारतीय सभ्यता के प्रारम्भ से ही हमें मिलती है। मानव-जाति की उपलब्ध आदिपुस्तक ऋग्वेद में मैत्री का उल्लेख है१, वह मैत्री जो किसी सम्प्रदाय या समुदाय या राष्ट्र में सीमित नहीं होती है।

यह ध्यान रखना चाहिये कि क्षान्ति का प्रारम्भ मैत्री से है। जहाँ सच्ची और स्वार्थ रहित मैत्री है वहाँ क्षान्ति भी है; जहाँ मैत्री में क्षान्ति नहीं है वह मैत्री सीमित और स्वार्थपरायण है।

क्षान्ति सर्वदा महामैत्री के साथ चलती है। क्षान्ति महामैत्री का ही विशिष्ट गुण है। जो मैत्री धारा की तरह निरन्तर प्रवाहित होकर आसन्न दूरस्थ ऊँच नीच तथा शुद्ध अशुद्ध सभी को लाभान्वित करती है, वह महामैत्री है।

बौद्ध धर्मावलम्बी महामैत्री की व्याख्या इस प्रकार करते हैं:—"सभी जीवों के प्रति असीम कोमल भावना।" वे कहते हैं कि "जिस भावना से माँ अपने इकलौते पुत्र की प्राण के मूल्य से रक्षा करती है; उसे व्यक्ति अपने हृदय में विकसित करे"।

"जिस प्रकार कोई वणिक या गृहस्थ अपने गुणवान् इकलौते पुत्र को हृदय से प्यार करता है उसी प्रकार करुणामय बोधिसत्त्व हृदय से सभी जीवों के प्रति मैत्रीभाव रखते हैं"।

"सभी जीव मेरी सन्तान हैं और मैं सभी की सन्तान हूँ"।

"पुत्र के प्रति प्रेम के समान स्नेह"।

यह सर्वाश्लेष महामैत्री क्या है? बौद्ध कहते हैं, जिसमें सर्वाश्लेष महामैत्री का उदय होता है, वह सभी जीवों के उपकार के लिये अपने शरीर, अपने जीवन एवं अपने कुशल मूल (अलोभ, अद्वेष अमोह से अर्जित पुण्य) का बिना फलासक्ति के उत्सर्ग कर देता है।२

मैत्री को किस प्रकार विकसित किया जाय?

प्रथम, संसार में सबसे प्रिय व्यक्ति के प्रति मैत्रीभाव उत्पन्न करना चाहिये। उसकी सुख सुविधा एवं कुशलता को बढ़ाने की बात सोचनी चाहिये। इसी प्रकार क्रमशः प्रियतर

---

१. वे जन्म से शुद्ध हैं। वे सभी समान हैं। कोई ऊँच या नीच-नहीं है। सभी मनुष्य सभी दिशाओं से मेरी शरण में आवें। ऋग्वेद ५, ५९, ६.।

२. देखिये सुत्तनिपात, १-६, ७; शिक्षासमुच्चय, पृ० २६७, १९, १४७।

और प्रिय के प्रति भी सोचना चाहिये। पुन सम्बन्धियों, असम्बन्धियों, पड़ोसियों, ग्रामवासियों पड़ोसी ग्रामों तथा सम्पूर्ण देशवासियों के प्रति भी ऐसा ही सोचना चाहिये।

जब आप इस अवस्था को पहुचते हैं तब यह सभव होगा कि आप में किसी भी दिशाओं में रहनेवाले सभी जीवों के प्रति मैत्री उत्पन्न हो।

अपने विचारों को इसप्रकार निर्देशित करते हुए आप अपने हृदय और मन को इतना अभ्यस्त कर लेंगे कि आप सभी जीवों के प्रति वही कोमल स्नेहभाव अनुभव करेंगे जो किसी पिता को पुत्र के प्रति होता है।३

दान का आरम्भ घर से होता है। अपने परिवार एव सम्बन्धियों से प्रेम करें। महामैत्री का विकास उसके लिये सभव नहीं है जिसे अपने सम्बन्धियों के प्रति मैत्री नहीं है।

यदि कोई वर्णमाला नहीं सीखता है तो वह साहित्य का अध्ययन भी नहीं कर सकता है। सम्बन्धियों के प्रति मैत्री का विकास करना वर्णमाला सीखने के समान है।

परन्तु हममें से अधिकतर जीवनपर्यन्त वर्णमाला सीखने में ही लगा देते हैं और कविता के अपूर्व लोक की झांकी मिलने के पूर्व ही काल कवलित हो जाते हैं।

मैत्री बौद्धधर्म की आत्मा और उसका जीवन है। इस महामैत्री के आदर्श ने सहस्रों नर-नारियों को दुखित मानव जाति ही नहीं बल्कि समस्त जीवों के लिये अपने जीवन को उत्सर्ग कर देने के लिये प्रेरित किया।

मैत्रीभाव से शाक्यिन बौद्ध हिमालय को पार कर अन्य देशों में गये। ग्रीस के अण्टीयोकस द्वितीय (२६१-२४६ ई० पू०) ने राज्य एव पड़ोसी देशों में मनुष्य एव पशुओं के लिये अस्पताल बनवाये। वहाँ औषधियों एवं जड़ीबूटियों को ले गये और उन जड़ीबूटियों के उत्पादन की व्यवस्था भी की। यह ईसा के २६० वर्ष पूर्व हुआ था।४

अपने युग के अग्रगण्य बौद्धधर्मावलम्बी सम्राट् अशोक ने धर्मप्रचारकों को मिस्र, सीरिया, मेसेडोनिया आदि देशों में धर्मप्रचार के लिये भेजा। ये धर्मप्रचारक किसी राजनैतिक या सैनिक उद्देश्य को लेकर वहाँ नहीं गये थे बल्कि धर्मविजय की प्रेरणा से गये थे।

'धर्मविजय' का अर्थ किसी विशेष धर्म या सम्प्रदाय की विजय से नहीं है, बल्कि महामैत्री, महाकरुणा और क्षान्ति की विजय है जो सभी धर्मों का सार है।

---

३. वही पृ० १९, २१२ १३।

४ *शिलालेख तयास।*

ईसा से तीन शताब्दी पूर्व के प्रस्तरलेखों में बौद्धधर्मावलम्बियों के महामैत्री और क्षान्ति का अनुपम उदाहरण हमें मिलता है :—

"सभी मनुष्य मेरी सन्तान हैं, जिस प्रकार मैं अपनी सन्तानों के लिये लोक परलोक में सुख की कामना करता हूँ उसी प्रकार मैं सभी मनुष्यों के लिये भी करता हूँ"।५

"देवानाम् प्रियदर्शी राजा की कामना है कि सभी सम्प्रदाय सभी जगह रहें, क्योंकि सभी आत्मसंयम और चित्तविशुद्धि चाहते हैं।"

"प्रियदर्शी राजा सभी सम्प्रदायों, यतियों तथा गृहस्थों का आदर करते हैं, उन्हें उपहारों और सम्मानों से सम्मानित करते हैं। लेकिन देवानाम् प्रिय इन उपहारों और सम्मानों को उतना महत्त्व नहीं देते हैं जितना कि सभी सम्प्रदायों के धर्मों के सार (मूलतत्त्व) के विकास को देते हैं।"

"धर्मों के सार का विकास भी विविध प्रकार का है। परन्तु सबका मूल सम्यक् वाणी है, उदाहरणस्वरूप, बिना प्रसंग के अपने सम्प्रदाय की प्रशंसा और अन्य सम्प्रदाय की निन्दा नहीं होनी चाहिये, या किसी प्रसंग में ऐसा करना भी पड़े तो वह एक सीमा तक ही रहे। इसके विपरीत अन्य के सम्प्रदायों की किसी भी प्रसंग में प्रशंसा ही करनी चाहिये"।

"ऐसा करके कोई भी अपने सम्प्रदाय के हित की रक्षा करता है और अन्य के सम्प्रदाय को भी लाभ पहुँचाता है। इसके विपरीत (निन्दा करके) अपने सम्प्रदाय को आघात पहुँचाता है और अन्य के सम्प्रदाय की हानि करता है। जो अपने सम्प्रदाय की प्रशंसा और दूसरे की निन्दा करता है वह अपने सम्प्रदाय में आसक्त होकर उसे प्रकाश में लाने के लिये ही ऐसा करता है"।

"वस्तुतः वैसा करके अपने सम्प्रदाय को आघात पहुँचाता है। इसलिये समागम प्रशंसनीय है, क्योंकि वे एक दूसरे के धर्म को सुनें और सुनने की आकांक्षा रखें। देवानाम् प्रिय की यह कामना है कि सभी सम्प्रदायों को सुविदित कराया जाय और वे कुशल क्षेम की वृद्धि में सहायक बनें। जो किसी सम्प्रदाय के प्रति झुकाव रखते हैं, उन्हें भी यह विदित कराया जाय कि देवानाम् प्रिय दान और सम्मान को उतना महत्त्व नहीं देते है जितना कि सभी सम्प्रदायों के बीच धर्मों के सार के विकास और पारस्परिक सराहना को"।

"इसी उद्देश्य से धर्ममहामात्र, महिलाओं के अध्यक्ष, वज्रभूमि तथा अन्य अधिकारियों की

---

५. कलिङ्ग शिलालेख १, २ (१५, १६)

नियुक्ति की गयी है और इसका यह फल है—अपने सम्प्रदाय को ऊँचा उठाना और धर्म को प्रकाशित करना"।६

जब कि ससार के आधे लोग असभ्य थे, मनुष्य के इतिहास के उस युग में भी, बौद्ध सस्कृति में क्षान्ति (विशेषकर धार्मिक क्षान्ति) अपनी चरम सीमा को पहुँच चुकी थी।

अशोक स्वय बौद्ध था, परन्तु वह सभी धार्मिक सम्प्रदायों के प्रति समान भाव रखता था। इसमें कुछ पाश्चात्य विद्वान अभी भी सदेह करते हैं कि वह बौद्ध था।

बौद्धों में क्षमा करने की भावना इस कोटि तक पहुँच चुकी थी कि वे बुद्धों की प्रतिमा भग्नावशेष तथा सद्धर्म के विध्वसक को भी क्षमा कर देते थे। वे कहते हैं कि —

"ये कार्य बुद्धों तथा बोधिसत्त्वों को दुःखित नहीं करते हैं, इसलिये इन आततायियों के प्रति क्रुद्ध नहीं होना चाहिये"।७

बौद्ध शत्रु को अपनी दुष्ट सन्तान की तरह समझते हैं। न तो उनसे क्रुद्ध ही होते हैं और न उनके प्रति प्रतिशोध की भावना ही रखते हैं। उनका दृढ़ विश्वास है कि उनकी असीम मैत्री उनमें अन्तत परिवर्तन लायेगी।८

उनकी क्षान्ति चरमोत्कर्ष पर पहुँचती है जब वे शूली की पीड़ा को सहन करते हुए और अपने शरीर के टुकड़े टुकड़े किये जाने पर भी आघात पहुँचानेवाले के प्रति मैत्री का प्रदर्शन करते हैं।९

प्राचीन भारत इतिहास के प्रति उदासीन रहा है। गौरवपूर्ण घटनाओं का कोई क्रमबद्ध उल्लेख नहीं मिलता है। कहानियों और गाथाओं के रूप में उनका कुछ अश पुराणों, जातकों एव अवदानों में मिश्रित पड़ा है। परन्तु कभी कभी हमारा साहित्य भी इन घटनाओं के प्रति मौन है जो शताब्दियों के बीच गुजरी।

ईसा के प्रारम्भ से १२ वीं शताब्दी तक सैकड़ों भारतीय चीन गये और चीनी भारत आये। भारतीय और चीनी विद्वानों ने सम्मिलित रूप से या पृथक् पृथक् विभिन्न भारतीय पुस्तकों का चीनी में अनुवाद किया। भारतीय विद्वानों की भी चीनी में मूल रचनायें हैं।

---

६ शिलालेख ७, आर० ई० १२।

७ बोधिचर्यावतार, ६ ६३।

८ उस समय शूली दिये जाने के वर्णन में कहा गया है, "दो लोहे की छड़ें हाथों में, दो पैरों में और एक वक्ष में छेद दी जाती थीं'—अशोकावदान पृ० ४६।

९. शिक्षासमुच्चय, पृ० १८७।

संस्कृति के आदान प्रदान के इस गौरवपूर्ण इतिहास का पता हमें चीनी उल्लेखों से ही मिलता है जो सावधानी से सुरक्षित रखे गए हैं। भारतीय साहित्य, संस्कृत और पालि में इनका कोई उल्लेख नहीं है। वे इन १२ शतियों के लम्बे इतिहास के सम्बन्ध में मौन हैं।

हमें एक महान् बौद्ध स्थविर का पता मिलता है, जिसने अपने हत्यारे को क्षमा ही नहीं किया बल्कि उसकी प्राण रक्षा में सहायक भी हुआ। वह स्थविर देव या आर्यदेव हैं जो शून्यवाद के प्रतिपादक हैं। एकान्त वन में ध्यान करते समय किसी ने उन्हें छुरा मार दिया। जब वे मरणासन्न थे तब अपने हत्यारे को भिक्षु वेष में भाग निकलने का परामर्श देकर उसे चीवर और पात्र दे दिया।१०

बुद्ध के अनुयायियों में इस प्रकार के भद्र नर-नारी थे-जो मात्र धर्मशिक्षा ही नहीं देते थे बल्कि उन्हें अपने जीवन में उतारते थे।

बौद्ध सम्पूर्ण विश्व को एक इकाई मानते हैं। अगर सम्पूर्ण इकाई का विकास न होकर केवल किसी एक अंग का विकास होता है तो यह अस्वस्थता का चिह्न है। यदि कोई अविकसित अंग का विकास चाहता है तो वह सम्पूर्ण शरीर का विकास करे। इसलिये सम्पूर्ण शरीर अर्थात् सम्पूर्ण विश्व का विकास, उसका पोषण और उसकी रक्षा हो।

"जिस प्रकार आप अपने हाथों, पैरों आदि अंगों की रक्षा करते हैं; उसी प्रकार सम्पूर्ण विश्व को एक इकाई समझ कर, सभी जीवों की रक्षा करें।

"जिस प्रकार हाथ, पैर, सिर आदि के कष्ट को अपना ही समझते हैं उसी प्रकार सम्पूर्ण संसार के दुःख को अपना समझे"।११

बौद्ध विश्वास करते हैं कि बुद्ध जीवकाय (निर्माण काय) में ही संसार में अवस्थान करते हैं। कैसे कोई उनका अनादर कर सकता है। यदि कोई बुद्ध का वस्तुतः आदर करता है तो वह सभी जीवों के प्रति मैत्री भाव रखे, उनका आदर करे और उनकी सेवा करे।

अतः असहाय का सहायक, मार्ग में आपन्न का दर्शक और पारगामी के लिये नौका सेतु और बांध बने।

रोगी के लिये औषधि, और वैद्य बने। उनकी तबतक शुश्रूषा करे जबतक वे निरोग और पूर्ण स्वस्थ न हो जाँय।

१०, नानजियो का चीनी कैटेलाग, सं० १४६२, १३४०।

११, बोधि० ८, २१।

जिन्हें प्रकाश चाहिये उनके लिये प्रदीप बने। विस्तर चाहनेवाले के लिये विस्तर और नौकर चाहनेवाले के लिये नौकर बने।

अपने उद्देश्य में सलग्न रहे जबतक कि सभी जीव मुक्त नहीं हो जाते हैं।[१२]

सद्धर्म के समान ही शत्रु की भी सेवा, आदर और पूजा करे क्योंकि—"क्षमा श्रेष्ठतम गुण है। यह बुद्धत्त्व की ओर ले जाता है। इसका (क्षमा) विकास सभव नहीं है, यदि मेरा अहित करनेवाला शत्रु नहीं है। अहित करके या अहित करने के प्रयत्न द्वारा वह मुझे लाभ ही पहुँचाता है क्योंकि इससे मुझे क्षमा रूपी श्रेष्ठतम गुण के विकास का सुअवसर मिलता है"।

"यदि वह मेरा अहित नहीं करता या करने की भावना नहीं रखता और यदि वह मेरी भलाई करने की चेष्टा करता तो उसके प्रति बुरी भावना कभी उत्पन्न ही नहीं होती और न उसके त्यागने का प्रश्न उठता।

"मुझ में क्षमा के उदय का एकमात्र कारण है कि उसने मेरा अहित किया और अहित करने की भावना रखता है। सद्धर्म की तरह वह भी मुझे बुद्धत्त्व की ओर अग्रसर करता है, अत सद्धर्म के समान ही उसका आदर करना चाहिये"।[१३]

"यदि गगा के वालुका कणों के समान अगण्य जीव भी मेरी सभी तरह से बुरायी करें, तो भी मेरा चित्त बुरी भावना से परे है। इसी तरह वे मुझे सभी प्रकार का आदर सत्कार दें तब भी मेरा चित्त आनन्द से विचलित नहीं होगा"।[१४]

बौद्ध समाज में सम्पत्ति के समान वितरण की कामना करते हैं। यह सम्पत्ति केवल भौतिक ही नहीं है बल्कि बौद्धिक और आध्यात्मिक भी है।

उस समाज में जहाँ कुछ ही लोग शिक्षित या विवेकी हैं तथा शेष भाग अशिक्षित और नैतिकता के निम्नस्तर पर है, सम्पूर्ण परिवर्तन की आवश्यकता है।

बौद्ध साधारण जन की ओर से इन प्रश्नों को उठाते हैं कि—"वह शिक्षित है, गुणवान् है। परन्तु उससे हमारा क्या है? उसकी शिक्षा और उसके गुणों में हमारा भाग नहीं है। वे हमारे लिये किसी उपयोग के नहीं हैं। उससे समाज को क्या लाभ मिलता है"?

---

१२ वही, ६ ७-२१।

१३ वही, ६ १०२-१११।

१४ एन आउटलाइन अव प्रिन्सिपल मेथडस् अव मेडिटेशन (चीनी) देखिये विश्वभारती एनाल्स् भा० ३ पृ० १४७।

"वह सम्मानित होने के योग्य है, स्वस्थ है, सुखी है, हम गिरे हुए हैं, दुर्बल हैं, दुःखी हैं। उसे अपने सम्मान, पद और सुख से वंचित कर दूसरों के दुःख में भाग लेने को कहा जाय" ।१५

अतः हम देखते हैं कि बौद्धों के लिये उस सम्पत्ति, शिक्षा और गुणों का कोई उपयोग नहीं है यदि उनमें समाज के सभी सदस्यों का भाग नहीं है। वही समाज संसार के प्रत्येक सदस्यों द्वारा संगठित विश्व समाज है (जिसमें सभी का सभी चीजों में समान भाग है)।

बौद्ध एक विशिष्ट आध्यात्मिक साधना का प्रवेश करते हैं जिसे परात्मपरिवर्तन कहते हैं अर्थात् एक की आत्मा का अन्य के साथ परिवर्तन।

वह जो सम्मानित शिक्षित और गुणवान है और जिसका चरित्र निर्मल है इस आचार की साधना करे।

वह समाज में निन्दित और अधःपतित के साथ आत्मा का परिवर्तन करे। इस परिवर्तन के बाद वह अपने को उठाने का प्रयत्न करे।

यह विशिष्ट आध्यात्मिक साधना है जिसकी साधना मध्यकालीन (७ वीं शताब्दी के आसपास) बौद्धों ने की ।१६

उनका कोमल हृदय अधःपतित और उपेक्षितों के प्रति करुणा से ओतप्रोत था। उन्होंने अपने स्थान से नीचे उतर कर अपनी सन्तान की तरह उन्हें कंधे पर उठाया जो धूल धूसरित थे।

बौद्धों की धार्मिक क्षान्ति (सहिष्णुता) प्रसिद्ध है। प्राचीन भारत में बौद्ध वेदानुयायी शैव, निर्ग्रन्थ (जैन) और आजीवकों के साथ सद्भाव पूर्वक रहे। चीन में कनफ्युसियस् और ताओ के अनुयायियों के साथ मिले जुले रहे तथा जापान में शिन्तो मतावलम्बियों के साथ एक ही परिवार में घुलमिल गये।

किसी भी बौद्ध धर्मावलम्बी राजा ने किसी अन्य सम्प्रदाय के सदस्यों को कभी कत्ल नहीं करवाया। सभी सम्प्रदायों को उनके राज्य में समान अधिकार प्राप्त थे।

महामैत्री में सम्पूर्ण मानव जाति को आश्रय प्रदान करने की यथेष्ट उदारता है।

---

१५. बोधि० ६, १४१-६१।

१६. वही, ६, १११-१२०।

हिन्दी-रीतिकाव्य के संदर्भ में पत्र-पुष्पादि से निर्मित भारतीय आभूषणों का अध्ययन

लल्लन राय

शरीर-सज्जा के लिए पत्र-पुष्पादि प्राकृतिक उपादान मानव-जाति के आदिम साधन रहे हैं। पत्तियों की मेखला धारण कर 'ईव' द्वारा 'आदम' को रिझाने१ का प्रथम प्रयास चाहे भले ही काल्पनिक हो, पर यह मानव की आदिम प्रवृत्ति का संकेत अवश्य करता है। प्राचीन भारतीय साहित्य पर दृष्टिपात किया जाए, तो हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि शरीर सज्जा के लिए पुष्पों का विशेष महत्त्व था। रामायण काल मे पुष्प प्रसाधन के अत्यन्त प्रिय उपकरण थे। पचवटी मे सीता पुष्प से अपना शृगार करती थीं। रावण द्वारा अपहरण कर ले जाते समय उनके सिर मे गुँथे फूल और कमल की पखुरियाँ भूमि पर गिर गई।२ कमल पुष्पों के प्रति अत्यधिक प्रेम होने के कारण, उन्हे बार-बार 'प्रिय पकजा' कहा गया है।३ प्रसाधन के लिए तिलक अर्जुन, कुन्द, कर्णिकार आदि पुष्पों का अधिक प्रयोग होता था। दक्षिणवासी पुष्पापीड धारण करने के लिए प्रसिद्ध थे।४ रावण की रानियाँ अपने बालों में पुष्प मालाएँ गूँथा करती थीं। अशोक वाटिका में सीता के समक्ष जाते समय रावण ने लाल माला और वस्त्र धारण कर रखे थे।५ रामायण की भाँति महाभारत में भी पुष्प तथा पुष्पाभूषणों को प्रसाधन के लिए विशेष महत्त्वपूर्ण बताया गया है। जरासध का वध करने के लिए कृष्ण, अर्जुन और भीम जब मगध नगरी मे पहुँचे तो एक माली से बलपूर्वक बहुत सी मालाएँ छीन कर (बलाद्‌-गृहीत्वा माल्यानि मालाकान्महाबल) धारण कर लीं।६ वस्तुत मगध यात्रा में अपने को छिपाने के लिए कृष्णादि ने तेजस्वी ब्राह्मण स्नातकों का-सा वेश धारण कर लिया था (वर्चस्विनां ब्राह्मणानां स्नातकानां परिच्छदम्)।७ ऐसी स्थिति मे माल्यादि धारण करना अनुचित था।

---

१ 'हिस्टारिक कस्ट्यूमिंग' नेविल ट्रूमन, पृ० १।

२ रामायण, स० र० नारायण स्वामी अय्यर (१९३३), २। २९। १५-१६

३ 'पद्मपत्रविशालाक्षी सतत प्रिय पकजा'—रामायण, ४। १। ६७

४ 'कुर्वन्ति कुसुमापीडांशिर' सुरभीनमी।
मेघप्रकाशै फलकै दक्षिणात्या नरा यथा।'—रामायण, २। ९३। १३

५ 'रक्तमाल्याम्बरधर'—रामायण, ५।१८।४

६ महाभारत (गीता प्रेस स०), पर्व अध्याय २१, श्लो० २५-२६।

७ वही, अध्याय २०, श्लोक २८।

इस तथ्य को लक्ष्य कर के जरासंध ने उन तीनों की भर्त्सना करते हुए कहा—'ब्राह्मणो ! इस मानव-जगत् में सर्वत्र प्रसिद्ध है कि स्नातक-व्रत का पालन करने वाले ब्राह्मण समावर्त्तन आदि विशेष निमित्त के बिना माला और चन्दन नहीं धारण करते (न स्नातकव्रता विप्रा बहिर्माल्या-नुलेपना), मुझे भी यह अच्छी तरह मालूम है। आप लोग कौन हैं ? आप के गले में फूलों की माला है और भुजाओं पर धनुष की प्रत्यंचा की रगड़ का चिह्न स्पष्ट दिखाई दे रहा है'[८] इस पर कृष्ण ने जरासंध को उत्तर देते हुए पुष्पमाल्य धारण करने का कारण बताया—

'पुष्पवत्सु ध्रुवा श्रीश्च पुष्पवन्तस्ततोवयम्' ॥५१॥ अध्याय २१ (गीताप्रेस संस्करण)

अर्थात् जो पुष्प धारण करने वाले हैं, उनमें लक्ष्मी का निवास ध्रुव है। इसी लिए हम लोग पुष्पधारी हैं। उपर्युक्त संकेतों से हमें स्पष्ट पता चलता है कि महाभारत काल में पुष्प-माल्यादि धारण करना सौभाग्य प्रदायक माना जाता था। सामान्य स्थिति में स्नातकों अथवा ब्रह्मचारियों के लिए इनका प्रयोग वर्जित था। वे समावर्तन क्रिया के वाद गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने पर ही इनका उपयोग कर सकते थे।

रामायण, महाभारत आदि के अतिरिक्त नाट्शास्त्र, कामसूत्र, कालिदास आदि की रचनाओं में पत्र-पुष्पादि से निर्मित अनेक प्रसाधन उपकरणों का पता चलता है। आगे रीति-काव्य में मिलने वाले उल्लेखों के प्रसंग में इन पर प्रकाश डाला जायेगा। पुष्पाभरणों के प्रति प्राचीन भारतीयों की जिस ललक का चित्रण कालिदास आदि कवियों ने किया है, वह रीति-काल तक यद्यपि पर्याप्त शिथिल हो चुकी थी, फिर भी आज की भाँति समाप्त प्रायः नहीं हुई थी। रीतिकाव्य में हार, माला, गजरा, विभिन्न प्रकार के कर्णाभूषण, हाथ में पुष्प गुच्छ लेने का पर्याप्त उल्लेख हुआ है। शेखर और आपीड़ नामक प्राचीन शिरोभूषणों का उल्लेख तो हमें रीतिकाव्य में नहीं मिलता, पर विभिन्न रीतियों से सजाये गये कुसुम-कलित केशों का वर्णन काफी हुआ है। नीचे सब के अलग-अलग अध्ययन से तद्विषयक चलन तथा उनकी काव्यात्मक सार्थकता का स्पष्टीकरण हो जाएगा।

पुष्पहार और माला

विचार करने पर माला और हार के भेद के सम्बन्ध में बड़ी अस्पष्टता दृष्टिगत होती है। फूलों का हार भी माला की भाँति कभी-कभी पिरोया जाता है, पर उसमें पिरोये जानेवाले

८. वही, अध्याय २१, श्लोक ४३-४४।

फूल इस तरह के होते हैं, जो पिरोये जाकर भी योजित-से (जोड़े गये से) लगते हैं। वे फूल हैं—चम्पा, बेला, मौलश्री, हरसिंगार आदि। इन फूलों के डण्ठल (पुष्प-दण्ड) काफी लम्बे होते हैं, जिससे पिरोये जाकर भी एक से दूसरे पुष्प के बीच काफी अवकाश बना रहता है। ऐसे फूलों से बने हुए हार को हार और माला कहने की प्रथा आज भी है। बिहारी ने मौलश्री और चम्पक की माला का ही उल्लेख किया है, हार का नहीं।९ लेकिन अन्य रीतिकवियों ने मौलश्री और चम्पक से बनने वाले हार को हार ही कहा है माला नहीं।१० इससे पता लगता है कि बिहारी का ध्यान माला और हार के भेद पर नहीं था। ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय भी, आज की ही भाँति, चम्पक, मौलश्री आदि के हारों को माला भी कहा जाता था।

माला प्राय एक तरह के फूलों को गूँथ कर बनाई जाती है। हार अनेक प्रकार के फूलों के योग से बनता है, जिसमें नीचे फूलों का एक गुच्छा भी प्राय लटकाया जाता है। इसका निमाण माला की अपेक्षा अधिक फूलों से होता है। इसे बनाने के लिए कभी कभी फूल डोरे में बाँधे भी जाते हैं। इस विधि को हम 'ग्रथन' न कह कर 'योजन' कह सकते हैं। किन्तु 'योजन' के लिए आवश्यक नहीं है कि पुष्प बाँधे ही जाएँ। कामसूत्र की जयमगला टीका में 'योजनम्' शब्द की व्याख्या में 'नाना वर्णै पुष्पैर्विरचन योजनम्' कहा गया है।११ इससे 'योजन' (जोडना) के साथ ही हार और माला के भेद की ओर भी सकेत हो जाता है। हार मे जोड़ने (योजन) के साथ ही विविध रगों के फूलों की विशेष योजना भी करनी पडती है।

नाट्य शास्त्र में माला के पाँच प्रकार बतलाए गए हैं—वेष्टित, वितत, सघात्य, ग्रथिम और प्रलंबित।१२ प्राय इसी श्लोक का सहारा लेकर राजानक रुय्यक ने माला के आठ भेद

---

९ बिहारी रत्नाकर, 'मौलसिरी की माल'—दो० २०४, ५१३, 'चम्पक माल'—दो० ५४४, ६९५।

१० (क) 'चम्पक हार'—देव भावविलास, पृ० ११३, मतिराम-ललित ललाम, छ० ८८, देव रागरत्नाकर, पृ० छ० ६। २१, १८७५ आदि।

(ख) 'मौलसिरी हार'—मतिराम-रसराज, पृ० छ० ५६। ८०

११ काम सूत्र, भाग १, स० प० माधवाचार्य शर्मा, पृ० १०३।

१२ 'वेष्टित वितत चैव सघात्य ग्रथिम तथा।
प्रलबित तथा चैव माल्य पचविध स्मृतम्॥ ना० शा०, अनु० मनमोहन घोष, अध्याय २३, श्लो० ११।

किए हैं—वेष्टित, वितत, संघात्य, ग्रंथिमत, अवलम्ब, मुक्तक, स्तबक और मंजरी।१३ यद्यपि रीतिकाव्य में इन सभी प्रकार की मालाओं का उल्लेख नहीं मिलता, किन्तु रीतिकालीन चित्रों में हम इन्हें आसानी से पहचान सकते हैं।

जहाँ तक माला और हार के भेद का प्रश्न है, निर्माण विधि के अन्तर के साथ ही हार एक या एक से अधिक लड़ियों का भारी-भरकम होता है। देव ने चमेली की चार लड़ों के हार का उल्लेख किया है—

> चौसरु चमेली चारु हार नील कंचुकी पै
> ऊजरे विचित्र बास हास रस रौस की। राग रत्नाकर, पृ० छं० ६।२१

मान ने अनेक भाँति के पुष्पों से बने 'चौसरे' का उल्लेख इस प्रकार किया है—

> चंवेलि जूही जाइ चंपक कुन्द करणी केवरा।
> मचकुन्द मालति दवन मुग्गर चारु कंठहि चौसरा॥ राजविलास (दीन जी), पृ० ६। ३०

इसमें आए हुए 'दवन मुग्गर, केवरा' आदि पिरोवे नहीं जा सकते, अतः निश्चित रूप से वे अन्य पुष्पों के साथ बाँधे गये होंगे। विहारी ने भी एक स्थल पर हार का उल्लेख किया है—

> पहुला हारु हियै लसै, सन की बेंदी भाल।
> राखति खेत खरे खरे, खरे-उरोजनु बाल॥ वि० र०, दो० २४८।

पहुला (प्रफुल्ल) शब्द कुमुदिनी या कोईं के लिये आया है। भाद्र और आश्विन के महीनों में तालावों में कोईं अत्यधिक मात्रा में फूलती है। इसका चिकना और लम्बा दन्ड (नाल) पानी के नीचे रहता है। उसे वीच से फाड़कर एक या दो-दो अंगुल लम्बे टुकड़ों की लड़ियाँ वना ली जाती हैं, जो नाल के छिलके के सहारे टिकी रहती हैं। इसमें नीचे कुमुदिनो लटकतो रहती है। आज भी ग्रामीण वालक और कुमारियाँ मकई आदि फसलों की रक्षा के लिए जाते हुए प्रायः इसे वनाकर पहन लेती हैं। यह एक लड़ के हार का अत्यन्त स्पष्ट नमूना है।

पद्माकर ने एक स्थल पर कदम्ब हार का उल्लेख किया है। परन्तु अन्य रीति कवियों की रचनाओं में हमें कदम्ब की माला का ही अधिक उल्लेख मिलता है। वस्तुतः कदम्ब का

१३. सहृदय लीला, काव्य माला पंचम गुच्छ (निर्णय सागर प्रेस); पृ० १४८।

हार नहीं बनता है। लगता है, पद्माकर ने एक विशेष स्थिति या भाव का बोध कराने और तुक की पूर्ति के लिए ऐसा किया है—

कैधों डरी तूँ टरी जलजन्तु तें कै अगभार सिवार भयो है।
कैधों सुवारि विहारहि में तन तेरो कदंब को हार भयो है॥

—पद्माकर ग्र०, पृ० छ० ६८। ४५०

यहाँ सिवार के तुक पर रोमाच का बोध कराने के लिए 'कदम्ब को माल' के स्थान पर 'कदम्ब को हार' कह दिया गया है। वस्तुत कदम्ब के फूल ग्रथनीय होते हैं। उनके बीच में अवकाश देना या दूसरे फूलों को लगाना भी असुविधाजनक होता है। अत उससे प्राय माला ही बनती है, हार नहीं।

भिखारीदास ने 'तुलसीदल माल' का उल्लेख किया है।१४ लेकिन केवल तुलसीदल की माला नहीं बनती, न तो कहीं इसका अन्यत्र उल्लेख ही हुआ है। मदिरों में चढ़ाने के लिए बेला, जूही, गेंदा, आदि के बीच में तुलसीदल या विल्व-पत्र आज भी लगाया जाता है। समवत भिखारीदास का तात्पर्य इसी प्रकार की माला से रहा हो।

वनमाला

रीतिकाव्य में वनमाला का बहुत अधिक उल्लेख हुआ है।१५ विष्णु की वैजयन्ती माला की भाँति यह कृष्ण की परम्परागत माला है। क्यों कि रीति कवियों ने मुख्य रूप से कृष्ण को ही नायक माना है, अत इनके काव्य में इस माला का अधिक उल्लेख स्वाभाविक है। लेकिन इन कवियों के वर्णन से यह स्पष्ट पता नहीं चलता कि वह कैसी होती थी और किस चीज से बनती थी। पद्माकर के एक छन्द से वनमाला के सम्बन्ध में कुछ संकेत इस प्रकार मिलता है—

दोऊ अटान चढे पद्माकर देखैं दुहू को दुवौ छवि छाई।
त्यों ब्रजवालै गुपाल तहाँ बनमाल तमालन की दरसाई॥

---

१४ भिखारी ग्र० २, पृ० छ० २। २१

१५ विहारी-रत्नाकर, दो० १५४, ४०५—मतिराम-ललित ललाम, छ० ५३, ६२, ७६, १०५—मति० सतसई, दो० ४२६—विक्रम सतसई, दो० १२९—पद्माकर ग्र०, पृ० छ० १८०। ४६८, १९२। ५३४—भिखारी ग्र० १, पृ० छं० ७४। ५०८—भिखारी ग्र० २, १२५। १४—देव-भाव विलास, पृ० ७३—देव-शब्द रसायन, पृ० ४५—केशव ग्रं० १, पृ० छं० २८। २७, ३७। ४७ इत्यादि।

चन्दमुखी चतुराई करी तब ऐसी कछू अपने मनभाई।
अंचल ऐंचि उरोजन तें नन्दलाल को मालती माल दिखाई॥
—पद्माकर ग्रं०, पृ० छं० १८० । ४६८

रीतिकाव्य में वनमाला का उल्लेख सदैव नायक या पुरुषों के लिए और मालती माल का प्रायः स्त्रियों के लिए हुआ है। इससे यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि दोनों क्रमशः पुरुषों और स्त्रियों के लिए परम्परा-विहित थीं। संस्कृत साहित्य में तमाल पत्रों पर अभिप्राय बनाने तथा उससे पत्रच्छेद्य आदि बनाने का उल्लेख तो मिलता है, पर उसके फूलों का वर्णन नहीं हुआ है। हिन्दी साहित्य में भी तमाल के फूलों का उल्लेख नहीं मिलता, जब कि उसके काले तने और डालियों का बहुशः वर्णन हुआ है। मोनियर विलियम्स ने इसे काली छाल तथा सफेद फूलों वाला वृक्ष बतलाया है।१६ रीतिकालीन चित्रों में घुटनों के नीचे तक लटकती हुई माला कृष्ण के चित्रण में प्रायः दिखलाई गई है। उसे वनमाला समझा जा सकता है। मोनियर विलियम्स और आप्टे ने वाराहमिहिर की बृहत्संहिता के आधार पर वनमाला को जंगली फूलों की माला बतलाया भी है।१७ आप्टे ने 'शब्द माला' के आधार पर वनमाला की परिभाषा इस प्रकार बतलाई है—

अजानु लम्बिनी माला सर्वर्तु कुसुमोज्ज्वला।
मध्ये स्थूलकादम्बाढ्या वनमालेति कीर्तिता॥१८

इससे स्पष्ट पता चलता है कि उक्त माला घुटनों तक लम्बी और सफेद फूलों से बनी होती थी, जिसके मध्य में कदम्ब का बड़ा-सा फूल लगाया जाता था। ऊपर पद्माकर द्वारा उल्लिखित 'बनमाल तमालन' का तात्पर्य, तमाल के फूलों से बनी वनमाला से ही है। राजपूत एवं पहाड़ी शैली के लघु-चित्रों में कृष्ण के लिए जो लम्बी माला दिखाई गई है, उसमें एक ही प्रकार के सफेद फूल लगे हैं। कहने का तात्पर्य यह कि वनमाला को तमाल के फूलों से बनी लम्बी माला समझना चाहिए।

---

१६. संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ४३८।

१७. मो० वि० और आप्टे कृत संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, क्रमशः पृ० ९१८ और १३८६।

१८. आप्टे कृत संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० १३८६।

गजरा

हार और माला के साथ ही रीतिकाव्य मे फूलों के गजरे का भी बहुत चित्रण हुआ है। गजरे को हिन्दी कोशों मे फूलों की लम्बी माला कहा गया है। बड़े बड़े फूलों की लम्बी माला को, जिसमें नीचे फूलों का बड़ा सा गुच्छा लटकाया जाता है, आजकल भी गजरा कहने का चलन है। परन्तु गजरा गले और कलाइयों में बाँधी जाने वाली बड़े फूलों की माला है। इसके लिए प्राचीन सस्कृत शब्द आपीड है, जो जूड़े में बाँधा जाता था।१९ आजकल मुख्य रूप से दक्षिण भारत में केश-विन्यास के लिए इसका उपयोग होता है। किन्तु रीतिकाव्य मे आपीड का उल्लेख नहीं हुआ है। गजरे के सम्बन्ध में रीतिकाव्य में ऐसा स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता, जिससे उसका स्वरूप निर्धारित हो सके। किन्तु भिखारीदास ने एक स्थल पर कुछ सकेत अवश्य दिया है—

> मोतीमाल बनमाल गुजन की माल गरैं
> फूले फूले फूलनि के गजरा रसाल है। भि० ग्र० १, पृ० छ० ७४।५८

इससे लगता है कि मोती-माल, वनमाल, गुजमाल के साथ गजरे के रूप में लम्बी माला न होकर गले में कसा हुआ फूलों का गजरा ही रहा होगा। इसी प्रकार के कण्ठे को गजरा समझना चाहिए। नाट्य शास्त्र मे माला के जो पाँच भेद बतलाए गये हैं, उनमे वेष्टित की पहचान गजरे से की जा सकती है।२०

शिरोभूषण

रीतिकाव्य में 'कुसुम-कलित'२१ केशो के अतिरिक्त फूलों के किसी अन्य विशेष शिरोभूषण का उल्लेख नहीं मिलता।

---

१९ कामसूत्र, भाग १, अनु० प० माधवाचार्य शर्मा, पृ० ८७।

२०, नाट्य शास्त्र, अनु० मनमोहन घोष, अध्याय श्लो० २३।१०

२१ केशव ग्र० १, 'बेनी मे बनाइ गुही कुन्द की कली', पृ० छ० २०२।३४—मतिराम-रसराज, 'केसनि में छाई छवि फूलनि के वृन्द की', पृ० छ० ६४।१०३—मतिराम-ललित ललाम, 'कुसुम कलित केस', छ० ८९ इत्यादि।

फूलों के कर्णाभूषण

हार, माला, गजरा आदि के साथ ही रीतिकाव्य में कानों में पुष्प या पुष्प-मंजरी पहनने का भी उल्लेख हुआ है। पुष्प-मंजरी कालिदास का प्रिय कर्णाभूषण रहा है। कानों में सौरभ-मंजरी धारण करने का उल्लेख भिखारीदास ने भी किया है।२२ पद्माकर ने कानों के लिए गुलाब-कली का उल्लेख इस प्रकार किया है—

यहाँ गुलाब कली जैसे स्वर्णनिर्मित आभूषण का भी तात्पर्य हो सकता है, किन्तु देव ने आम के बौर की बीर (बीड) या 'बीरैं' का स्पष्ट उल्लेख किया है –

'अंब के बौरनि बीरैं विराजति मौरसिरी सो धरी सिरमौरी'।

राग रत्नाकर, पृ० छं० ६। २३

आम्र-मंजरी के साथ ही रीति-कवियों ने कमल या कमल-कली के कर्णाभूषण का भी उल्लेख किया है।२३ लेकिन निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि रीतिकालीन समाज में इस प्रकार का प्रसाधन प्रचलित था या नहीं। रागमाला काव्य और रागमाला लघु-चित्रों में ही विशेष रूप से इस प्रकार के उपकरणों का उल्लेख हुआ है, जिससे लगता है कि वे अधिकांशतः प्राचीन परम्परा के अवशेष मात्र हैं।

हाथों में पुष्प, पुष्प-गुच्छ, मंजरी या माला

रीति कवियों ने हाथों में माला, लीला कमल, गुलाब-कली, पुष्पगुच्छ या पुष्प-मंजरी आदि लेने का भी उल्लेख किया है।२४ प्राचीन संस्कृत साहित्य में लीला-कमल, पुष्पमंजरी आदि

---

२२. 'सौरभ मंजरी कानन में', काव्य निर्णय, पृ० छं० ५।११

'केसर रंग रँगी सिर ओढ़नी काननि कीन्हें गुलाब कली है'। पद्मा० ग्रं०, पृ० छं० १३२।२३९

२३. आलमकेलि, 'रतोपल (रक्तोत्पल) की तरकी,' पृ० छं० १२५। ३०६—विक्रम सतसई, 'स्रवन सरोजन की कली', दो० ४११—मतिराम-रसराज, 'गुच्छनि के अवतंस', पृ० छं० १३४। २३८ इत्यादि।

२४. देव-राग रत्नाकर, 'दुहूँ कर कंज सनाल लिए', पृ० छं० १४।५७, 'रसाल की मंजरी हाथ', पृ० छं० १६। ६६, 'माल दोऊ कर', पृ० छं० १४।५५—मतिराम-ललित ललाम, 'हाथ दुहुनि सौं चम्पक गुच्छनि', छं० ९१—मतिराम-रसराज, 'पल्लव लाल समेत छरी कर', पृ० छं० ७५।१३८, १३४।२३८—पद्माकर ग्रं०, 'फूलछरी', पृ० छं० ९४।७०, १२२।१९६, एक कर कंज', पृ० छं० १०६।१२४, रसाल की मंजरी 'हाथ', पृ० छं० १५४।३४३ इत्यादि।

लेने का पर्याप्त उल्लेख मिलता है। सुकुमार प्रसाधन के साथ ही इस प्रकार की सज्जा काव्य मे एक विशेष अभिप्राय के लिए भी आई है। रागमाल-लघु चित्रों के साथ ही अन्य शैली के चित्रों में भी इस प्रकार की सज्जा दिखाई गई है। सामान्य प्रसाधन के साथ ही काव्य-अभिप्राय के रूप मे इनकी काव्यात्मक सार्थकता पर आगे विचार किया जाएगा।

पुष्प ताडन और माला-बध

सस्कृत साहित्य में लीला-कमल, कर्णोत्पल आदि से प्रिय या पति का ताड़न करना और माला से बाँधना एक काव्य-अभिप्राय के रूप मे आया है। कामदेव की मृत्यु से दुःख विह्वल रति कहती है कि एक बार, 'गोत्रस्खलन' के अपराध मे जब मैंने अपने कान में पहने कमल के कर्णावतन से तुम्हारा ताड़न किया था तो उसका पराग पड़ जाने से तुम्हारी आँखें दुखने लगी थीं। क्या वही स्मरण करके तुम मुझसे रूठ गए हो।२५ श्यामिलक ने भी अपने 'पादताडितकम्' नामक भाण में अपराधी प्रिय को कर्णोत्पल से मारने का उल्लेख किया है।२६ 'अमरुशतक' में पति के अधर में दन्तक्षत देख नायिका द्वारा नील कमल से उसका ताड़न करने और आँखों में उसका पराग पड़ने का उल्लेख हुआ है।२७ जहाँ तक लीला-कमल का प्रश्न है, प्राचीन साहित्य, मूर्ति एव चित्रकला में इसका बहुश उल्लेख हुआ है। सर्वत्र यह सौकुमार्य-बोधक और मागलिक सज्जा के रूप में आया है। अपने प्रिय या पति से मिलनोत्सुक स्त्रियाँ शृंगार के बाद कभी-कभी हाथों में कमल धारण करती थीं। पति को अपराधी पा कर लीला-कमल को सूँघती हुई नायिका के मूर्च्छित हो जाने का 'अमरु शतक' में स्पष्ट वर्णन हुआ है।२८ रीतिकाव्य तथा चित्रों मे भी हाथ में कमल, गुलाब, आम्रमजरी, चम्पक गुच्छ, माला आदि लेने के पर्याप्त उल्लेख मिलते हैं।२९ सस्कृत साहित्य की भाँति रीति कवियों ने भी इस प्रकार के प्रसाधन और ताडन को काव्य-अभिप्राय के रूप में ग्रहण किया है। इस सम्बन्ध में पद्माकर का कवित्त है—

---

२५ 'च्युतकेशरदूषितेक्षणान्यवतसोत्पल ताडनानि वा', कुमार० ४।८

२६ 'शिर कर्णोत्पलेनास्य—ताड्यंती मत्तया तया'। शृगार हाट, स० मोती चद्र, पृ० १५४।१४०

२७ 'लीलातामरसाहतोऽन्यवनितानि शक दष्टाधर'। अमरु०, ५४। ७२

२८ लीलातामरसोदरे मृगदृश श्वासा समालिंगता'। अमरु०, ४८। ६०

२९, द्रष्टव्य, प्रस्तुत लेख की पाद टिप्पणी स० २४।

रोस करि पकरि परोस तें लियाई घरै
पी को प्रान प्यारी भुज लतानि भरै भरै।
× × ×
ऐसी धनि धन्य धनी धन्य है सु वैसो जाहि
फूल की छरी सो खरी हनति हरै हरै॥ पद्मा० ग्रं०, ९३। ७०

नायिका-पति को पड़ोसिन के घर से पकड़ कर क्रोध-पूर्वक अपने घर ले आती है। सखियाँ के सामने उसे खरी-खोटी सुनाती हुई फिर वैसा न करने को कहती है। किन्तु पति कपट-पूर्वक तथ्य छिपाने और हँस-हँस कर बात को टाल देने की कोशिश करता है। ऐसी स्थिति में अधीर होकर नायिका उसे फूल की छड़ी से मारने लगती है। रीतिकाव्य में उल्लिखित इस 'फूल छरी' की पहचान तत्कालीन काव्य तथा चित्रों में आए हुए सनाल कमल से की जा सकती है। बेनी प्रवीण ने इस प्रसंग में माला से मारने का उल्लेख किया है—

'बूझिए न ऐसी आली अँखियाँ अरुन कै कै
मदन गोपाल को चलाई माल फूल की'। नवरस तरंग, १५। ८६

भिखारीदास ने पुष्प ताड़न का उल्लेख इस प्रकार किया है—

'ग्वाल बाल के संग जगे भये लाल दृग लाल।
ऐगुनि बुझि हन्यौ सखी करि दृग लाल सनाल॥ भि० ग्रं० १, १०। ५३

तथा—

सुमन चलावति मानिनी सखी कहति जदुराइ।
ओट रहौ मृदुगात में चोट न कहुँ लगि जाइ॥ भि० ग्रं० १, १०। ५३

प्रथम दोहे में सखी नायिका के कृत्य का उल्लेख करती हुई कहती है कि अपने साथी-संगियों के साथ रात में जागने के कारण नायक के नेत्र लाल हो गये थे, लेकिन मेरी सखी ने इससे उसके अपराध का अनुमान कर सनाल कमल से उसका ताड़न किया। दूसरे दोहे में कृष्ण को अपराधी जान राधा उन्हें फूल से मारने जा रही हैं। इस पर सखी उन्हें ओट में होने के लिए सचेत करती है। इन सभी प्रसंगों में पुष्प-ताड़न एक काव्य-अभिप्राय के रूप में आया है, जिससे बड़े विस्तृत एवं सामाजिक दृष्टि से निषिद्ध प्रसंगों की अवतारणा हुई है।

ऊपर संकेत किया जा चुका है कि रीतिकाव्य में हाथों में माला लेने और अपराधी प्रिय को उससे मारने का उल्लेख हुआ है। संस्कृत-साहित्य में माला-बंध एक काव्य अभिप्राय था। गोत्रस्खलन के अपराधी प्रिय को मेखला या माला से बाँधे जाने का बहुशः उल्लेख

कालिदास, माघ, हाल आदि कवियों ने किया है।३० डा० मोतिचन्द्र ने इस अभिप्राय के सम्बन्ध में लिखा है, "स्त्री द्वारा पुरुषायित रति रचाने का संकेत मेखला-बंध से सूचित किया जाता था। गुप्त युग में यह संकेत और व्यंजना सुविदित थी।३१ लेकिन ऊपर कालिदास, माघ, हाल आदि के उदाहरणों से पुरुषायित का कोई संकेत नहीं मिलता। काम शास्त्रीय ग्रंथों में पुरुषायित की व्यवस्था पुरुष के शिथिल राग होने पर की गयी है। गोत्रस्खलित या सपत्नीगामी का पत्नी के प्रति शिथिल राग होना स्वाभाविक है। ऐसी स्थिति में मेखला या माला बंध से पुरुषायित का तात्पर्य निकाला जा सकता है। इस सम्बन्ध में यदि व्यापक दृष्टि से विचार करें तो इस 'बंध' के मनोवैज्ञानिक या जन विश्वास सम्बन्धी अन्य कारण भी मिल सकते हैं। स्त्रियोचित यौन अंगों के प्रति पुरुषों का आकर्षण अत्यन्त तीव्र होता है। ऐसी स्थिति में उन्हें सजाने वाले मेखला, माला आदि की ओर भी उनका आकृष्ट होना स्वाभाविक है। अतएव उक्त उपकरणों में स्त्रियों द्वारा प्रिय या पति को स्ववश कर लेने की शक्ति का विश्वास माला या मेखला बंध का एक कारण हो सकता है।

ऊपर कुमारसम्भव, अमरुशतक, शिशुपालवध, पादताडितक तथा रीतिकाव्य में माला-बंध एवं पुष्प-ताडन का उल्लेख एक निश्चित प्रसंग में हुआ है। सर्वत्र स्वकीया मानिनी या खण्डिताएँ ही पति का ताडन करती हैं। स्वकीया में भी मुग्धा और मध्या नहीं, वरन् प्रौढ़ाएँ ही ऐसा करती हैं, धीरा और धीराधीरा नहीं। कम-से-कम रीतिकाव्य में पुष्प-ताड़न का उल्लेख केवल स्वकीया-प्रौढ़ा-अधीरा नायिकाओं के ही प्रसंग में हुआ है। स्त्रियों की सामाजिक स्थिति और काम क्रीड़ा सम्बन्धी परिवर्तित धारणाओं के कारण संस्कृत साहित्य की भांति लाक्षारस अथवा नूपुर-युक्त चरण से नायक के मस्तक के ताडन का उल्लेख रीतिकाव्य में नहीं मिलता।

उपर्युक्त विवेचन से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि पुष्पाभरणों के सामाजिक-धार्मिक एवं सौन्दर्योपकारक मूल्य के साथ ही काव्यात्मक सार्थकता भी थी।

---

३० 'मेखलाभिरसकृच्च बन्धनं वंचयन्प्रणयिनीरवाप सः।'—रघुवंश, १९।१७।
'स्मरसि स्मर मेखलागुणैरुत गोत्रस्खलितेषु बन्धनम्।'—कुमार०, ४।८।
'अधिरजनि जगाम धाम तस्याः प्रियतमेयतिरुषा स्रजावनद्धः।
पदमपि चलितुं युवा न सेहे किमिव न शक्तिहरं ससाध्वसानाम्॥'—शिशुपालवध ७।५२।
'गोत्तक्खलणं सोऊण पिअअमे अज्ज तीअ खणदिवसे।
वज्झमहिसस्स मालव्व मण्डणं उअह पडिहाइ॥'—गाथा०, ५।९६।

३१, शृंगार हाट, पृ० ७९-८०।

बंगाल के सूफी पीर

शालिग्राम गुप्त

अविभाजित बंगाल का सूफीमत ईसा की १६वीं शताब्दी पर्यन्त उत्तर भारत के सूफीमत के अनुरूप ही था। उत्तर भारत से होकर बंगाल में जिन सूफियों ने आगमन किया उनका बहुत कुछ इतिहास आज विस्मृति के अतल गर्भ में विलीन हो चुका है, फिर भी उनमें से किसी का केवल नाम से अथवा केवल समाधि मंदिर की जीर्ण स्मृति मात्र से, नहीं तो एकाध शिलालिपि से ही परिचय मिलता है।

बंगाल (अविभाजित) चार सूफी केन्द्रों में विभक्त था। वारेन्द्र केन्द्र, राढ केन्द्र, बंग केन्द्र और चाटुल केन्द्र। वारेन्द्र केन्द्र में मालदह, दिनाजपुर, राजमहल, पूर्णिया और उसके चतुर्दिक के स्थान सम्मिलित किये जाते हैं। इस केन्द्र से सम्बन्धित जिन १४ प्रसिद्ध सूफी संतों का उल्लेख मिलता है उनके नाम हैं—१. मखदूम शेख जलालुद्दीन तबरीखी, २. शेख सिराजुद्दीन बदायुनी, ३. शेख अलाउद्दीन अलाउलहक्, ४. शेख नूरुद्दीन कुतुब-ए-आलम, ५. शेख हुसामुद्दीन मानिकपुरी, ६. राजी हामिद शाह, ७. शेख रिद्वरिया वानी, ८. शेख खलील, ९. शेख निमतुल्ला, १०. पीर बदरुद्दीन, ११. मुल्ला अताउद्दीन, १२. शाह इस्माइल घायी, १३. मखदूम जहानिया जहाँगस्त बुखारी और १४. सैयद नीक मरदन (नेक मर्दान)।

राढ केन्द्र के सूफियों का प्रधान कार्यक्षेत्र वर्द्धमान और उसके अंतर्गत मंगलकोट, वीरभूम, बाँकुड़ा, हुगली और उसके अंतर्गत पाण्डुया माना जाता है। इस केन्द्र के १२ सूफी संतों का उल्लेख क्रमशः इस प्रकार मिलता है—

१. मखदूम शाह महमूद गजनवी अथवा राही पीर, २. शाह सफीउद्दीन शहीद, ३. शाह अब्दुल्लाह किरमानी, ४. शाह अनवर कुली हलबी अथवा मुहम्मद कबीर, ५. बिहारी पीर बदरुद्दीन बद्र-ए-आलम अथवा पीर बद्र, ६. मौलाना हमीद दानिश मंद, ७. हाजी बहराम सक्का, ८. शाह सुल्तान अन्सारी, ९. मखदूम शाह जहीरुद्दीन, १०. मखदूम शाह अब्दुल्ला गुजराती, ११. खराज अनवर शाह और १२. शाह मीर धाकिर अली अल् कादिरी।

सूफी संतों का तृतीय केन्द्र बंग केन्द्र राजशाही, पावना, बगुड़ा, मयमनसिंह, श्रीहट्ट, फरीदपुर और बाखरगंज जिलों को लेकर गठित हुआ था। इस केन्द्र से सम्बन्धित २१ संतों का उल्लेख क्रमशः इस प्रकार किया जाता है—

१. मखदूम शाह, २. मौलाना शाह दौलत, ३. पीर थबूत साहिब, ४. मखदूम

शाह दौलत शहीद, ५ शाह अफदल् महमूद, ६ शाह सुल्तान बल्खी, ७. लेण्टा पीर ८. पीर महाकाल, ९ फतह अली शाह, १०. बाबा आदम, ११ शाह मुहम्मद सुल्तान रूमी, १२ कुतुब साहिब, १३ पीर साहिन शाह, १४. मिसकिन शाह, १५. शाह कमाल, १६ शाह जलाल, १७ बाबा आदम शहीद, १८. शाह अली बगदादी, १९ शाह लगर, २० शाह मालिक और २१ सैयदुल आरिफीन।

चाटुल केन्द्र सूफी सतों का चतुर्थ केन्द्र था जिसका गठन चटग्राम, त्रिपुरा और नोयाखाली जिलों को लेकर हुआ था। इस केन्द्र के निम्नलिखित १० दरवेशों को 'बार औलिया' कहा जाता है—

१ सुल्तान बायिसेद् विस्तामी २ शेख फरीद, ३ बदर शाह वा बदर औलिया, ४ कानाल पीर अथवा पीर कनाल ५ शाह मुहसिन औलिया, ६ शाह पीर अथवा शाह मुहम्मद युसुफ, ७ शाह उमर, ८ शाह बदल्, ९. शाह चाँद औलिय और १० शाह जरद।

उपर्युक्त केन्द्र से ही सम्बन्धित जिन ८ सूफी सतों का उल्लेख मिलता है, वे क्रमश इस प्रकार हैं—

१ शाह मुल्ला मिसकीन, २ काजी मुवक्किल, ३ हामिद शाह, ४ शाह अशरफ ५ अमानत शाह, ६ शाह मुइनुद्दीन, ७ शाह सुन्दर और ८ शाह अहमदुल्ला।[1]

बगाल के जिन चार सूफी केन्द्रों का ऊपर उल्लेख किया गया है उनसे सम्बन्धित सूफी पीरों का ज्ञात परिचय इस प्रकार है।

१ पीर बदरुद्दीन (उपस्थिति काल १४९३-१५१९ ई०)—वारेन्द्र केन्द्र के अतर्गत दिनाजपुर जिला के हेमताबाद नामक स्थान मे इस दरवेश की क्षुद्र समाधि है। कहा जाता है महेश राजा नामक कोई हिन्दू राजा जब यहाँ राज्य करता था तब पीर बदरुद्दीन हेमताबाद इस्लाम धर्म प्रचार करने के लिये आये थे। राजा के मुस्लिम विद्वेषी होने के कारण पीर बदरुद्दीन कालान्तर में गौडाधिपति सुल्तान हुसेन शाह (१४९३-१५१९ ई०) के शरणापन्न हुए। सुल्तान ने महेश राजा के विपक्ष में उनकी सहायता की। शक्ति बाहुल्य के कारण युद्ध मे महेश राजा का पतन हुआ और हेमताबाद में पीर बदरुद्दीन द्वारा इस्लाम का प्रचार हुआ। सम्भवत इस लौकिक प्रवाद में कुछ ऐतिहासिक सत्य विद्यमान है, क्योंकि हेमताबाद से थोडी ही दूर पर अभी भी प्रासादमाला के ध्वंशावशेष हैं। यहीं एक चतुर्भुजाकृति के

---

१ देखें—'ए हिस्ट्री आफ सूफिज्म इन बगाल' लेखक डा०मुहम्मद एनामुल हक।

स्तम्भ का भग्न स्तूप भी देखा जाता है। स्थानीय समाज में इसी ध्वंशोन्मुख प्रासादमाला को महेश राजा का राज प्रासाद एवं स्तम्भ को हुसेन शाही तख्त कह कर सम्बोधित करते हैं। सम्भवतः महेश राजा के पराजित होने पर वह स्थान जब मुसलमानों के हाथ लगा तब हुसेन शाह का स्तम्भ निर्मित करा कर उनकी विजय-स्मृति की रक्षा करने की चेष्टा की गई हो। यह भी देखा जाता है कि पीर बदरुद्दीन की समाधि-मंदिर प्रासाद माला के उपादानों द्वारा ही गठित हुई है।

२, राही पीर (मखदूम शाह महमूद गजनवी)—राढ केन्द्र के समस्त सूफी साधकों में ये सम्भवतः सबसे प्राचीन मुस्लिम साधक हैं। बर्द्धमान जिला के अंतर्गत मंगलकोट में विक्रम केशरी नामक निष्ठावान और इस्लाम विरोधी हिन्दू राजा जब राज्य करता था उसी समय राही पीर ने मंगलकोट में प्रवेश किया था। राजा विक्रम केशरी ने उन्हें अपने राज्य से निष्कासित करने की प्राणपण चेष्टा की किन्तु विफल मनोरथ होने पर राही पीर को राजधानी से बाहर कनूर नदी के तटवर्ती आड़ाल ग्राम में बास करने के लिये राजा को बाध्य होकर अनुमति देनी पड़ी।

राही पीर जब आड़ाल ग्राम में बास करते थे उसी समय दिल्ली के तत्कालीन बादशाह के यहाँ से राजा विक्रम केशरी के पास फ़ारसी में लिखा एक पत्र आया। राजा ने उसे पढ़ाने तथा उत्तर देने के लिये राही पीर की शरण ली। राही पीर ने उस पत्र के उत्तर में राजा से छिपकर उनकी मुसलमानों के प्रति विद्वेष की समस्त कथा दिल्ली बादशाह के निकट लिखकर, बादशाह से विक्रम केशरी के राज्य पर आक्रमण करने का अनुरोध किया। बादशाह ने दरवेश के अनुरोध की रक्षा की। फलस्वरूप हिन्दू-मुसलमान के बीच जो युद्ध हुआ, उसमें राही पीर ने भी योगदान दिया। युद्ध में राजा पराजित हुए और ढाका जिला के विक्रमपुर स्थान को पलायन कर गए। यहाँ विक्रम केशरी ने बहुत दिनों तक राज्य किया। मंगलकोट मुसलमानों द्वारा अधिकृत होने पर राही पीर ने वहाँ इस्लाम का प्रचार किया।

राजा विक्रम केशरी अति प्राचीन व्यक्ति थे। सम्भवतः वह तुर्कियों द्वारा किये गए बंग विजय के समय में बंगाल के पश्चिमी अंचल में राज्य करते थे। जो भी हो, उपर्युक्त विवरणों के आधार पर सम्भवतः राही पीर की चालबाजी से मुसलमानों द्वारा किये गए १३वीं शताब्दी के प्रारम्भ में मंगलकोट विजय की कहानी नितान्त काल्पनिक नहीं कही जा सकती।

३. पीर बदूर—बर्द्धमान जिला के काल्ना नदी के किनारे अनुमानतः ढाई किलोमीटर के व्यवधान पर इस पीर की समाधि है। पीर बदूर के प्रचार के ही फलस्वरूप काल्ना अंचल में इस्लाम प्रचारित हुआ था। पीर बदूर स्थानीय हिन्दू मुसलमानों में समान भाव से पूज्य थे। लोक विश्वास है कि पीर की दरगाह के आसपास का स्थान समस्त आपदाओं विपदाओं से मुक्त है।

पीर बद्र अथवा बिहारी पीर बद्रुद्दीन बद्र-ए-आलम् एक पर्यटक थे। कहा जाता है उन्होंने चटुग्राम पर्यन्त भ्रमण किया था। सन् १४४० ई० में उन्होंने बिहार छोड़ा था। बंगाल के जिन जिन स्थानों का उन्होंने भ्रमण किया था वहाँ पर कहीं कहीं उनकी स्मृति रक्षार्थ नकली कब्रें बना दी गई हैं।

४ बदर (शाह) पीर—ये चटुग्राम में अनेक नाम से परिचित हैं यथा बदरपीर, बदर औलिया, बदरशाह और पीर बदर प्रभृति। चटुग्राम के हिन्दू मुसलमान बौद्ध और ईसाइयों में ये समभाव से सम्मानित हैं। चटुग्राम के बरशी बाज़ार में सर्वजन पूजित इनकी समाधि भी विद्यमान है। सुवर्णग्राम के स्वाधीन सुल्तान फखरुद्दीन मुबारक शाह के राजत्व काल (सन् १३३६—१३५२ ई०) में ये चटुग्राम आये एवं वहाँ इस्लाम का सफल प्रचार किया। इन्हीं के जीवन काल में मुसलमानों द्वारा सर्वप्रथम चटुग्राम विजित हुआ था। प्रतिवर्ष २९ रमजान को इस दरवेश के उर्स पर वार्षिक उत्सव सम्पन्न होता है।

५ लैंटा पीर और पीर सोहा काला (महाकाल)—बाँकुडा जिलान्तर्गत सोनामुखी में लेंग्टा पीर एवं कस्बा में पीर सोहा काला की कब्रों का उल्लेख मिलता है। हिन्दू मुसलमान समभाव से इन दोनों पीरों के प्रति सम्मान प्रदर्शित करते हैं। लोक विश्वास है कि इनकी कृपा से नानाविध रोग शोक, आपद विपद प्रभृति होने पर मुक्ति लाभ प्राप्त किया जा सकता है।

६ शाह पीर (मृत्युकाल १६३२ ई०)—सातकानिया थाना (चटुग्राम) के ये एक प्रसिद्ध साधक थे। चटुग्राम के अनेक स्थान से लोग उनकी समाधि दर्शन के लिये आया करते हैं। शाह पीर सम्भवत दिल्ली के कोई राजपूत थे। वैरागी जीवन का अवशिष्ट अंश सम्भवत सातकानिया में ही उन्होंने व्यतीत किया था।

कहते हैं उत्तर प्रदेश में मीराट् शाह पीर नामक किसी विख्यात दरवेश की समाधि है। सम्राट जहाँगीर की पत्नी नूर ए-जाहान् ने उनकी कब्र के ऊपर एक सुरम्य मंदिर का निर्माण करवा दिया था।[1] मीराट् शाह पीर ने सन् १६३२ ई० में देहत्याग किया था। ये 'सत्तारी सम्प्रदाय' भुक्त सूफी साधक थे। चटुग्राम के शाह पीर के साथ इन मीराट् शाह पीर का कोई सम्बन्ध था? कहा नहीं जा सकता।

उपर्युक्त पीरों के अतिरिक्त बंग केन्द्र के पीर थबूत साहिब एवं पीर साहिन शाह के सम्बन्ध में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि इनकी समाधियाँ क्रमश बादलगाछि जिला राजशाही एवं आटिया जिला मैमनसिंह में हैं तथा चाटुल केन्द्र के एक बार औलिया काताल पार अथवा पीर कमाल् की समाधि चटुग्राम म्युनिस्पेलिटी के अंतर्गत काताल गंज में है।

१, इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलजन एण्ड एथिक्स—आर्टिकल, 'इंडियन सैन्टस्'।

ग्रंथ-समीक्षा

जिणदत्त चरित—(आदिकालिक हिन्दी काव्य) संपादक—डा० माताप्रसाद गुप्त तथा डा० कस्तूरचंद कासलीवाल, प्रकाशक—दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीर जी, जयपुर, १९६६। पृ० सं १६८+७२+१३, मूल्य ५)रु०।

जिनदत्त चरित—जैन पौराणिक कथाकाव्य है। कथा के आकर्षक तत्त्वों का कृति में बाहुल्य नहीं है और विशुद्ध काव्य के लिए अपेक्षित भव्य कवि-कल्पना के भी उसमें विशेष स्थल नहीं मिलते तो भी यह लघु कथाकृति महत्त्वपूर्ण है; क्योंकि आदिकालीन हिन्दी साहित्य के इतिहास में जो थोड़े से ग्रंथ मिलते हैं उनमें से अधिकांश का रचना काल विवाद-ग्रस्त है जब कि जिणदत्त चरित का रचना काल निश्चित है। कृति में भाषा की दृष्टि से भी कुछ उल्लेख योग्य विशेषताएँ मिलती हैं जो उसे प्राचीन हिंदी की प्रामाणिक रचना सिद्ध करती हैं।

रचना काल का कृति में कवि ने पूरा विवरण दिया है—

संवत तेरहसें चउवर्ण्णें भादव सुदि पंचम गुरु दिण्णे।
स्वाति नखत्तु चंदु तुलहती, कवइ रल्ह पणवह सरसुती॥

अर्थात् संवत् १३५४ भाद्र सुदि पंचमी गुरुवार को स्वाति नक्षत्र, चंद्र तुला राशि में कवि रल्ह सरस्वती को नमस्कार करता है। संपादकों ने भूमिका में गणना द्वारा तिथि की शुद्धता की जांच करने का कोई संकेत नहीं किया है। कृति वीसलदेव रासो से लगभग ८० वर्ष पीछे की रचना है। चौदहवीं शती में नवीन आर्यभाषाएँ पर्याप्त विकसित हो चुकी थीं, तो भी अपभ्रंश की कुछ विशेषताएँ स्वाभाविक रूप में प्रयुक्त होती चली आ रही थीं।

जिणदत्त चरित की भाषा अपने समय की भाषा का अत्यंत स्वाभाविक और सहज प्रचलित रूप प्रस्तुत करती है। अपभ्रंश में ध्वनियों के प्रयोग में एकरूपता मिलती है। परिवर्तन युगीन भाषा में दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ मिलती हैं। प्राकृतापभ्रंश की प्रवृत्ति तथा स्वतंत्र प्रवृत्ति। उदाहरण के लिए-प्राकृत और अपभ्रंश में ऋ के स्थान पर प्रायः रि का प्रयोग हुआ है—परिवर्तन कालीन भाषा में तत्सम शब्दों में व्यवहृत ध्वनिरूपों के प्रयोग की ओर झुकाव दिखता है—जिणदत्त चरित में दोनों ही प्रवृत्तियाँ दिखती हैं; ऋष (छंद ४८), रिषि (५८-६२), रिसह (१) इसी प्रकार मूर्धन्य ष कष्ट जैसे शब्द प्रयोगों में सुरक्षित है तथा कहीं कहीं जैसे-निकिठी (४०३) (निकृष्ट) में लुप्त हो गया है। तालव्य श श्रवण (५०) जैसे शब्दों में जहाँ तहाँ मिलता है और कहीं उसके स्थान पर पश्चिमी बोलियों के अनुरूप दन्त्य 'स' का प्रयोग सरावग (श्रावक) जैसे शब्दों में मिलता है। संयुक्त र् का सव (सर्व), द्रव (द्रव्य), गंधव्व (गंधर्व) में लोप हुआ दिखता है तथा परोहणु (१९२) और प्रोहण (२३७) में वैकल्पिक एक स्वर के स्थान पर दूसरे स्वर के प्रयोग की अपभ्रंश की छूट के उदाहरण भी बहुत मिलते हैं—यथा अ के स्थान पर उ—उज्झाउरि (अयोध्यापुरी), ऋ के स्थान पर उ (पुठि—पृष्ठ, १५)। व्यंजन ध्वनियों के परिवर्तत भी अपभ्रंश के समान ही मिलते हैं।

एक विशेष प्रवृत्ति दिखती है द्वित्व व्यजनों के सरलीकरण की यथा—अक्खउ के स्थान पर अखउ (२०), लग्गु के स्थल पर लागु (२३), उप्पत्ति के स्थान पर उतपाति (२६), मत्तलोउ के स्थान पर मतलोउ (२७) इत्यादि, इसके विपरीत कुछ शब्दों में द्वित्व व्यजन प्रयोग के भी उदाहरण मिलते हैं—यथा सत्ती (सती के स्थान पर ३३८), विमलामत्ती—(विमलमती के स्थान पर ३३८), सिरियामत्ती (श्रीमती के स्थान पर ३४०)। कृति में ध्वनियों के प्रयोग पर विचार करते हुए वीसलदेव रास की भाषा का बारबार स्मरण हो आता है।

विभक्तियों का प्रयोग आलोच्य कृति म द्रष्टव्य है। पुलिग, एकवचन कर्त्ता कारक मे कहीं उकारांत प्रयोग मिलते हैं, कहीं नहीं, यथा—सो जिणदत्तु विमलमति कतु, नदणवणु चल्लिउ विसतु (छ १५१) अर्थात्—विमलमति का पति वह जिनदत्त प्रसन्न होकर नदन वन चला। तथा यो जिणदत्त अगेटिउ तहां (१३२) वह जिनदत्त वहीं रुका रहा, दूसरी ओर पुलिंग एकवचन कर्म कारक के लिए 'कहु' (को परसर्ग का प्रयोग भी मिलता है, यथा—'झूठउ लेखि सुसर कहु लिखइ' (१४६) ससुर को झूठा लेख लिखा, या 'हम कहु तात देहु जिण खोडि'—तात ! हमको दोष मत दो। कर्म कारक के लिए खड़ीबोली में प्रयुक्त परसर्ग 'से' के समान जिनदत्त चरित में भी स्यों (सों) का प्रयोग मिलता है—'कहिउ सेठिस्यों जाइवि तेण'—उसने जाकर सेठ से कहा। अपादान के अथ में हुँतउ (२००) हुँति (३२५) से के प्रयोग अपभ्रश की कृतियों में मिलते हैं। सबध कारक के दो प्रकार के रूप मिलते हैं—सज्ञा के साथ ह जोड़कर सश्लिष्ट रूप जैसे जिणदत्तहि (१३०-१३४) तथा परसर्गों के रूप में तणी, की, कौ के प्रयोग अधिकता से मिलते हैं। सर्वनाम के प्रयोगों मे तेरी, तुमह, तुम्हारउ, तुम्हारी म्हारौ, हमरउ, तेरउ, तिसकौ, जिसुके, मेरी, अम्हह, इत्यादि उल्लेखनीय हैं। सयुक्त क्रिया-प्रयोग जिनदत्त चरित मे बहुत कम मिलते हैं, जाहि, देउ, देखहि जसे प्रयोग सामान्य हैं—प्रेरणार्थक दिखालहि (दिखलाया) जैसे रूप मिलते हैं।

प्रत्ययों—यथा स्वार्थे डी, डो, रु के प्रयोग भी पर्याप्त मिलते हैं। अनेक कम प्रचलित या बोलियों में विद्यमान प्राचीन शब्दों का प्रयोग विशेष उल्लेखनीय है। मुहावरों का प्रयोग भी कहीं कहीं बडा उपयुक्त हुआ है—पाय पसारउ आचल देखि (वस्त्र देखकर ही पैर पसार रहा हूँ)।

खण्ड काव्य की दृष्टि से भी जिणदत्त चरित महत्त्वपूर्ण है। चरित प्रधान कथाकाव्य की अनेक कथानक रूढ़ियाँ उसमें मिलती हैं—यथा प्रतिमा के दर्शन द्वारा प्रेम का प्रारम्भ, धन कमाने के लिए विदेशगमन और इस प्रकार कथानायक के शौर्य, धैर्य का प्रदर्शन, तथा परीक्षा, सिहल द्वीप की यात्रा, खल नायक सागरदत्त द्वारा जिनदत्त का समुद्र में गिराया जाना तथा विद्याधरों की सहायता से रथनूपुर नगर में पहुँचना और वहाँ बौने का रूप धारण कर नगर में कौतुक दिखाना तथा उन्मत्त हाथी को वश में करना तथा अत में धर्म के प्रताप से जिणदत्त की विजय और सागरदत्त की पराजय इत्यादि कथा की ऐसी घटनाएँ हैं जो प्राय सभी प्रेमकथाओं में मिलती हैं।

कृति में मध्ययुगीन काव्य रूढ़ियों का भी अच्छा प्रदर्शन हुआ है। प्रारभिक मगलाचरण के पश्चात् प्रकट होकर शारदा वरदान देती है, उस प्रसग को पढ़कर पुष्पदन्त के इसी प्रकार

के शारदा स्तवन का स्मरण हो आता है। कवि ने अपनी नम्रता का प्रदर्शन करके दुर्जनों का स्मरण किया है तथा अपना संक्षिप्त परिचय दिया है। कृति में नगरों के अनेक वर्णन हैं, जिनमें यद्यपि परंपरागत वर्णन शैली का अनुसरण किया गया है तथापि पर्याप्त सजीवता भी है। एक अक्षर से प्रारंभ होनेवाले नामों की गणना कवि ने अनेक पद्यों में की है—इसे केवल परंपरा पालन या कवि खिलवाड़ ही कहा जा सकता है : यथा—

मोह मछरु माणु मायारु।
मउ सरि मारणु मरविणु, मालिगु मलणु जहि कोवि सोसइं।
महु मंस मयरासहि उतहि मछिदु मउरउण दीसइं॥
मूढु मुसण मंगलु मखरु जहि ण मलइ जल मीणु।
भणइ रतह सु वसंतपुर, बीस मकार विहीणु॥

अर्थात्—रल्ह कवि कहता है कि वसंतपुर बीस मकारों से रहित था—मोह, मत्सरादि। छत्तीस कुल बहत्तर कला, सोलह विद्याएँ द्यूतकारों का वर्णन, उद्यान में वनस्पतियों की नामावली प्रदर्शनानुसार नायिकाओं के भेद इत्यादि अनेक कवि परंपरा से चले आते हुए प्रसंगों की ओर कृति में संकेत किया गया है। अनेक रमणीय शब्दचित्र कृति में आकर्षक हैं—यथा समुद्र का वर्णन—

दुद्धर मगरमछ घडियार, पाणिउ अगभ न सूझइ पार।
जल भय कंपइ सयल सरीर, लहरि पयंड झकोलइ नीर॥
घडहडाइ गाजइ जु समुद्द, सउ जोयण गहिरउ जलउद्द।

लोकतत्त्वों का समन्वय करती हुई शैली में लिखा गया यह काव्य आदिकालीन हिंदी साहित्य के अध्ययन के लिए महत्त्वपूर्ण है। वस्तु, दोहा, नाराच, पद्धडिया आदि प्रचलित छंदों का कृति में प्रयोग हुआ है यद्यपि कवि ने प्रारंभ में कहा है कि वह चौपाई बंध में कृति का प्रणयन कर रहा है—जिणदत्त रयउ चउपई बंधु।

कृति का संपादन एकमात्र उपलब्ध सं० १७५२ वि० की लिखी हुई प्रति के आधार पर हुआ है। प्रारंभ में भूमिका के रूप में कृति की कथावस्तु पर प्रकाश डाला गया है तथा मूल कृति का गद्य में अर्थ दिया गया है। यद्यपि संपादकों में डा० माताप्रसाद गुप्त का नाम है फिर भी उन्होंने कृति के अंत में 'अर्थ-संशोधन' शीर्षक एक अध्याय जोड़ दिया है इससे लगता है कि केवल महत्त्ववृद्धि के लिए उनका नाम संपादक के रूप में छपा है। जो हो मूल कृति का प्रकाशन उल्लेखनीय है, भाषा और काव्य परंपरा की दृष्टि से जिणदत्त चरित महत्त्वपूर्ण कृति है।

—रामसिंह तोमर

प्रागैतिहासिक भारतीय चित्रकला—लेखक डा०—जगदीश गुप्त, हिंदी विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग, प्रकाशक—नेशनल पब्लिशिंग हाउस, चन्द्रलोक, जवाहर नगर, दिल्ली ७, मूल्य ७५) रुपये।

डा० जगदीश गुप्त की 'प्रागैतिहासिक भारतीय चित्रकला' में ६०४ पृष्ठ हैं। कृति देखने में बड़ी भव्य है, पाठक को देखते ही आकर्षित करती है। डा० गुप्त स्वय कवि और कलाकार हैं। उन्होंने जिस विषय की प्रस्तुत कृति में चर्चा की है, उस पर भारतीय विद्वानों ने प्राय नहीं के बराबर कार्य किया है। कृति का विशाल आकार, अनेक चित्र और जिल्द तथा उसके आवरण पृष्ठ की आकर्षक साजसज्जा में नयेपन का आभास मिलता है।

पहले अध्याय में डा० गुप्त ने प्रागैतिहासिकता की अर्थव्याप्ति और शिला चित्रों के महत्त्व पर प्रकाश डाला है तथा विदेशों में कहाँ और किस प्रकार प्रागैतिहासिक चित्रों की खोज हुई, इसका रोचक वर्णन प्रस्तुत किया है। आगे के अध्यायों में भारतीय प्रागैतिहासिक चित्रों का जो विवेचन उन्होंने प्रस्तुत किया है उसके लिए विदेशी प्रागैतिहासिक चित्रों के खोज की कहानी एक प्रकार की पृष्ठभूमि प्रस्तुत करती है। सामान्य रुचि के पाठक के लिए बहुत सुविधा होती यदि डा० गुप्त स्पेन, फ्रांस, आफ्रिका, अष्ट्रेलिया, साइबेरिया तथा भारत मे प्राप्त प्रागैतिहासिक चित्रों का रचना काल भी दे देते और काल की एक तुलनात्मक रूप रेखा प्रस्तुत कर देते। इससे समय और काल की दृष्टि से विभिन्न देशों में प्राप्त चित्रों का तुलनात्मक मूल्यांकन करने में सुविधा प्राप्त होती। लेखक ने भारतीय प्रागैतिहासिक शिला चित्रों के सबध में योरोपीय विद्वान् गार्डन के काय का विस्तृत परिचय कुछ पृष्ठों मे (द्रष्टव्य पृ० ३९-५६) दिया है। इन चित्रों की उपलब्धि के प्रमुख क्षेत्रों का परिचय पृ० ५९ से ६१ मे दिया गया है। परिचय इस क्षेत्र में काम करनेवाले विद्वानों और सामान्य रुचि रखनेवाले जिज्ञासु दोनों के लिए ज्ञानवर्द्धक और मनोरजक सिद्ध होगा।

चित्रों का डा० गुप्त ने पर्याप्त विस्तार से परिचय दिया है। कृति में १८ छायाचित्र दिए हैं और अनेक रेखाचित्र हैं जो चित्रों के आधार पर स्वय उन्होंने बनाए है, ये रेखाचित्र प्राय काले और सफेद रगों में हैं। प्रामाणिकता की दृष्टि से छायाचित्रों के चित्र अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। यह सच है कि कभी कभी अच्छे छायाचित्र प्राप्त कर पाना कठिन है किन्तु छायाचित्रों के चित्रों के साथ रेखा चित्र देना, इस प्रकार की कला कृतियाँ, पाठकों के लिए ज्यादा महत्त्वपूर्ण हैं। यदि यह पद्धति इस कृति मे अपनाई गई होती तो कला कृतियों के अध्ययन के क्षेत्र में प्रस्तुत कृति का महत्त्व बढ़ जाता और अधिक आदर मिलता। जो १८ छायाचित्र कृति में छापे गए हैं उनकी छपाई भी बहुत सतोषजनक नहीं कही जा सकती, अच्छे कागज पर और अधिक स्पष्ट चित्र छपते तो निश्चय ही इस ग्रथ की उपयोगिता और महत्त्व बढ़ जाता। कृति मे दिए गए रेखाचित्र कलाकार-लेखक ने बड़े धैर्य से बनाए हैं किन्तु उनसे कृति का महत्त्व बढता नहीं क्योंकि प्रतिकृति कितनी ही ईमानदारी से की जाय उसमें कुछ न कुछ अतर आ ही जाता है और वह मूल कृति से कुछ न कुछ भिन्न रहती ही है। यदि

साथ ही साथ मूल कृति का छायाचित्र दिया जाय तो किसी सीमा तक प्रतिकृति का मूल्य हो सकता है। कृति में कलाकार-लेखक ने अनेक प्रतिकृतियाँ दी हैं यदि छायाचित्र अधिक रहते तो इतनी प्रतिकृतियों की आवश्यकता नहीं होती। जहाँ मूल कृति अत्यंत धुँधली हो या छायाचित्र अस्पष्ट हो उस स्थिति में प्रतिकृति आवश्यक हो जाती है।

प्रागैतिहासिक चित्रों में अंकित कुछ मानवाकृतियों की भावभंगियों तथा पीछे के ऐतिहासिक युग की मूर्तियों और चित्रों में कहीं कहीं समानता लक्षित होती है। भारहुत, सांची, खण्डगिरि उदयगिरि, भाज और अजंता की गुफाएँ चित्रकला से संबंधित परंपरा और काल के विषय में बहुत कुछ निश्चित प्रमाण प्रस्तुत करती हैं; प्रागैतिहासिक चित्रों का इन परंपराओं के साथ तुलनात्मक अध्ययन रुचिकर होता। ऊपर पैर उठाए अमानवीय आकृति से भाज में प्राप्त इसी प्रकार के दैत्य (जिमेर-जिल्द २, फलक ४०) से अद्भुत समता आकर्षक है। छ० यो० फलक ११ (पृ० २९१) में चित्रित अलंकृत शिरवाले योद्धा से मिलते जुलते अंकन अभी भी उत्तरी भारत में सामान्य जनता में प्रचलित हैं। इस प्रकार के तुलनात्मक अध्ययन से कृति में संग्रहीत चित्रों के काल तथा आर्यों के आगमन से पूर्व की परंपरा पर प्रकाश पड़ता। डा० गुप्त इस संभावना के प्रति सजग हैं जैसा कि (पृ० ५६२) उन्होंने संकेत किया है किन्तु भारतीय कला के क्षेत्र में परंपरागत कला-अभिप्रायों की अविच्छिन्न धारा के विकास पर उन्होंने प्रकाश नहीं डाला। आद्येतिहास, प्रागितिहास और इतिहास के युग एक दूसरे से विच्छिन्न नहीं है किन्तु परस्पर संबद्ध तथा क्रमशः विकसित रूप हैं। सत्य के सन्धान के लिए विभिन्न युगों की खोज आवश्यक है।

लेखक ने चित्रों का वर्गीकरण विषयवस्तु के आधार पर किया है—यथा—आखेट दृश्य, पशु-पक्षी, मानवाकृति, धनुर्धर तथा अन्य योद्धा इत्यादि। चित्रों के अध्ययन के लिए यह वर्गीकरण पर्याप्त सुविधाजनक है। गुप्त जी ने इन चित्रों के संबंध में भारतीय तथा विदेशी विद्वानों के मतों की विस्तार से चर्चा की है किन्तु इन चित्रों के काल के संबंध में उनका अपना क्या मत है उसकी कहीं चर्चा नहीं की। लेखक के विचार जानने की जिज्ञासा पाठक को बनी ही रह जाती है। अपने द्वारा बनाई गई प्रतिकृतियों के साथ डा० गुप्त अपने द्वारा अनुमित काल भी दे देते तो अच्छा रहता।

डा० गुप्त की पुस्तक महत्त्वपूर्ण है। भाषा और शैली सहज है। इतिहास और कला से संबंधित शब्दावली सहज ग्राह्य है। छपाई, सफाई चित्र संख्या देखते हुए कृति का मूल्य अधिक नहीं है, किन्तु हमारे देश के साधारण पाठक के लिए यह अधिक है। आभार प्रदर्शन में कुछ नाटकीयता का आभास मिलता है। भारतीय भाषाओं में कदाचित् इस प्रकार का यह पहला ग्रंथ है। लेखक इस प्रयास के लिए प्रशंसा और बधाई का पात्र है।

—मंजरी उकील

स्मृति में

आगस्त का महीना हिन्दी साहित्य जगत् के लिए दुर्भाग्यपूर्ण रहा। इस महीने में एक पखवाड़े के भीतर तीन साहित्य सेवी हमारे बीच से चले गए।

स्व० डा० श्रीकृष्ण लाल

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के वरिष्ठ अध्यापक और विद्वान डा० श्रीकृष्ण लाल का ११ अगस्त को पक्षाघात के आक्रमण से अकस्मिक निधन हो गया। कक्षा में वे अध्यापन कर रहे थे, अन किसी को आशका भी नहीं थी की वे इस प्रकार अचानक चले जायेंगे। १९४३ मे उन्होने अध्यापक का पद समाला था और पिछले छ वर्षो से वे रीडर थे।

डा० लाल का जन्म १९१२ ई० मे मीरजापुर मे हुआ था। आपने उच्च शिक्षा प्रयाग विश्वविद्यालय में प्राप्त की। आधुनिक हिंदी साहित्य का विकास १९००-१९२५ ई० आपकी महत्त्वपूर्ण शोध कृति है जिसमे आधुनिक साहित्य के विकास की विभिन्न परिस्थितियों का बहुत ही गम्भीर विवेचन किया गया है। डा० लाल ने अनेक कृतियों का सपादन भी किया जिनमें मुख्य है 'श्रीनिवासदास ग्रथावली'। आलोचक और अध्यापक दोनों ही रूपों में डा० लाल की सेवाएँ अविस्मरणीय रहेंगी। उनके आकस्मिक निधन से हिंदी साहित्य की अपूरणीय क्षति हुई है। उनके शोक सतप्त परिवार के प्रति हम हार्दिक सहानुभूति व्यक्त करते हैं।

स्व० प० शान्तिप्रिय द्विवेदी

प्रसिद्ध समालोचक, कवि तथा पत्रकार प० शान्तिप्रिय द्विवेदी का निधन गत २१ अगस्त को दीर्घ अस्वस्थता के बाद ६१ वर्ष की अवस्था मे वाराणसी में लोलार्क कुड पर स्थित उनके निवासस्थान पर हो गया।

द्विवेदी जी का जन्म १९०६ ई० मे काशी मे हुआ था, पूरा जीवन उन्होंने काशी में ही बिताया। उनका पालन पोषण उनकी बहन कल्पवती देवी ने किया था। शान्तिप्रिय जी की इच्छा अपनी स्वर्गीया बहन की स्मृति में 'कल्पवती कुटीर' स्थापित करने की थी।

आधुनिक निबधकारों तथा आलोचको मे शान्तिप्रिय जी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। प्रारभ मे उन्होंने कुछ कविताएँ भी लिखीं, किन्तु आगे चलकर आपने गद्यपथ का ही प्रमुखरूप से अनुसरण किया। उनकी आलोचनात्मक कृतियाँ 'हमारे साहित्य निर्माता', 'साहित्यिकी', 'कवि और काव्य' बहुत लोकप्रिय हुई। शुक्लोत्तर समीक्षकों में उनका स्थान महत्त्वपूर्ण है। जीवन-भर वे निस्सग रहे, उनकी प्रकृति एक प्रकार से अतर्मुखी थी, और इससे द्विवेदी जी को समाज के उपेक्षा भाव ने मानसिक कष्ट अधिक दिया। हिंदी ससार उनके साहित्य का आदर करेगा और कृतज्ञतापूर्वक उनकी साहित्य सेवा का स्मरण करेगा।

स्व० आचार्य नंददुलारे वाजपेयी

आचार्य वाजपेयी जी का देहावसान अचानक २१ अगस्त को हो गया। उनका संपूर्ण जीवन हिंदी के सर्वाङ्गीण विकास कार्य में व्यतीत हुआ। उनके आकस्मिक निधन से हिंदी जगत् की बहुत बड़ी क्षति हुई है। वे समर्थ, प्रतिष्ठित लेखक तो थे ही, भाषा और साहित्य के क्षेत्र में वे साहित्यिक नेता थे और इस समय जब क्षेत्रीय भाषाओं को उच्च शिक्षा का माध्यम बनाए जाने के प्रश्न पर देश में कटु विवाद छिड़ा हुआ है, वाइस चांसलर के रूप में उनका मत सही पक्ष को बल प्रदान करता। हमारा दुर्भाग्य है कि ऐसे कठिन समय में वाजपेयी जी नहीं रहे।

वाजपेयी जी का जन्म सन् १९०६ में जिला उन्नाव में हुआ था। उन्होंने उच्चशिक्षा काशी हिंदू विश्वविद्यालय में पाई। कुछ दिनों तक प्रयाग से निकलने वाले हिंदी साप्ताहिक 'भारत' के संपादक रहे; काशी नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित 'सूरसागर' तथा गीताप्रेस, गोरखपुर से प्रकाशित 'रामचरित मानस' का आलोचनात्मक संपादन उन्होंने किया। सन् १९४१ में वे काशी हिंदू विश्वविद्यालय में अध्यापक नियुक्त हुए। सन्, ४७ में सागर विश्वविद्यालय में हिंदी विभाग के अध्यक्ष हुए। इधर कई वर्षों से वे विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन के उपकुलपति थे।

संपादित कृतियों के अतिरिक्त वाजपेयी जी ने अनेक मौलिक कृतियाँ लिखीं। आधुनिक साहित्य के गिने चुने विशेषज्ञों में से वे एक थे—'जयशंकर प्रसाद', 'हिंदी साहित्य-बीसवीं शताब्दी', 'प्रेमचंद', 'आधुनिक साहित्य', 'नया साहित्य नये प्रश्न' कृतियों में आधुनिक साहित्य की विविध समस्याओं के संबंध में उनके सुलझे विचार हमें मिलते हैं। पत्रकार, अध्यापक, शोध-निर्देशक, साहित्य समीक्षक, स्वतंत्र विचारक और कुशल प्रशासक सभी रूपों में वाजपेयी जी के कार्य का विशिष्ट महत्व रहा। उनके निधन से हिंदी को बड़ी गहरी क्षति हुई है।

तीनों साहित्य सेवियों की दिवगंत आत्माओं की शान्ति के लिए हम प्रार्थना करते हैं।

विश्वभारती पत्रिका

विज्ञापन-दर

साधारण पृष्ठ	एक वर्ष (चार अंकों) का	एक अंक का
एक पृष्ठ	४००)	१२०)
आधा पृष्ठ	२००)	७०)
चौथाई पृष्ठ	१६०)	६०)
विशेष पृष्ठ	१०% अतिरिक्त	
आवरण पृष्ठ		
आवरण दूसरा पृष्ठ	५२०)	१६०)
आवरण तीसरा पृष्ठ	५२०)	१६०)
आवरण चौथा पृष्ठ	७२०)	२२०)

पत्र-व्यवहार का पता

संपादक,
विश्वभारती पत्रिका,
हिंदी भवन, शान्तिनिकेतन, बंगाल ।
टेलिफोन, बोलपुर २१-एक्सटेंशन ३९ ।